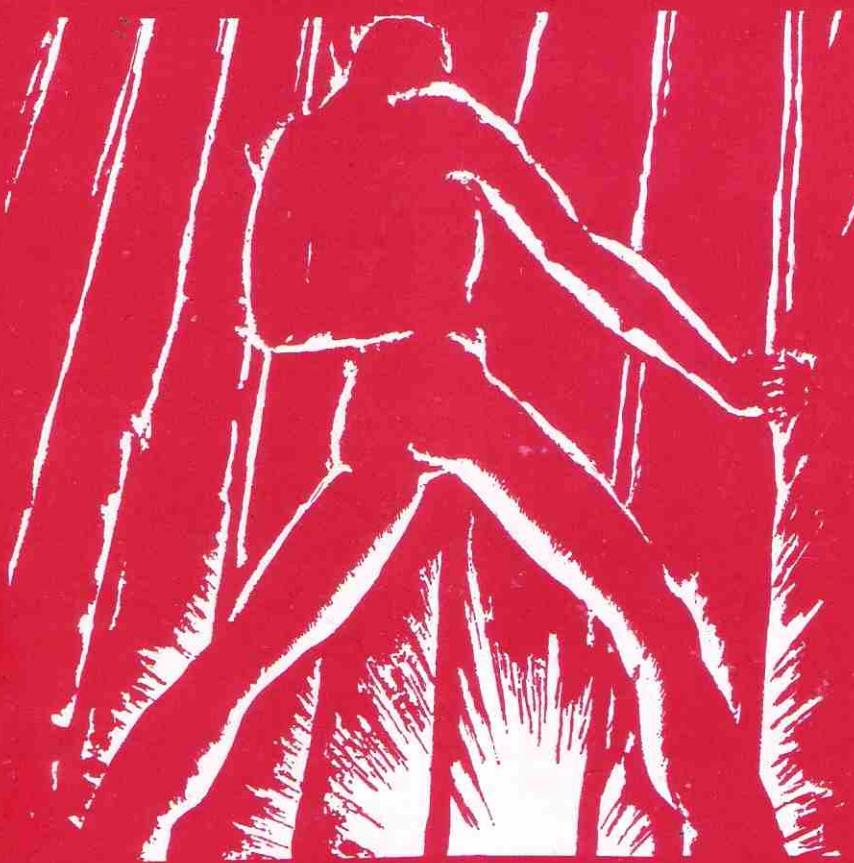


त्रैमासिक • जुलाई-सितम्बर 2000 • छह रुपए

मुक्तिकामी छात्रों-नौजवानों की त्रैमासिक पत्रिका

आख्यान

कैम्पस टाइम्स



शिक्षा पर नया हमला

फोस बढ़ाओ! शीटे घटाओ!
बू-चपड़ करने पर डण्डे चलाओ!

मेविसको के छात्रों का शानदार, प्रेरक संघर्ष
स्वयंसेवी संगठनों से सावधान!

सामाजिक-सांस्कृतिक ताने-बाने को साम्प्रदायिक रंग में रंगने की कुचेष्टाएं
अब टाडा से भी खतरनाक 'पोटा' कानून की बारी • ओलम्पिक और भारत
एक अत्यन्त सामयिक पुस्तक—माँ • कविताएं/कहानी/व्यंग्य/सिनेपा

कौन आज़ाद हुआ...

● अली सरदार जाफरी

कौन आज़ाद हुआ
 किसके माथे से सियाही छूटी
 मेरे सीने में दर्द है महकूमी का
 मादरे हिन्द के चेहरे पे उदासी है वही
 कौन आज़ाद हुआ...

खंजर आज़ाद है सीने में उतरने के लिए
 मौत आज़ाद है लाशों पे गुज़रने के लिए
 कौन आज़ाद हुआ...

काले बाज़ार में बदशकल चुड़ैलों की तरह
 कीमतें काली दुकानों पे खड़ी रहती हैं
 हर खरीदार की जेबों को कतरने के लिए
 कौन आज़ाद हुआ...

कारखानों में लगा रहता है
 सांस लेती हुई लाशों का हुजूम
 बीच में उनके फिरा करती है बेकारी भी
 अपने खूंख्वार दहन खोले हुए
 कौन आज़ाद हुआ...

रोटियां चकलों की कहवाएँ हैं
 जिनको सरमाए के दल्लालों ने
 नफ़ाखोरी के झरोखों में सजा रक्खा है
 बालियां धान की गेहूं के सुनहरे गोशे
 मिस्रो-यूनान के मजबूर गुलामों की तरह
 अजनबी देश के बाज़ारों में बिक जाते हैं
 और बदबूत किसानों की तड़पती हुई रुह
 अपने अफ़लास में मुंह ढांप के सो जाती हैं
 कौन आज़ाद हुआ...

देश के ज़ालिम हुक्मरानों और उनके
 लगू-भगुओं ने नई सदी के पहले स्वतंत्रता
 दिवस का जश्न हर बार से भी ज्यादा
 ताम-झाम से मनाया। झूठ की सङ्घीय मारते
 भाषण हुए, तिरंगा शरीर पर लपेटकर
 फैशन परेड हुई, दाढ़ पार्टियां हुईं...

15 अगस्त 1947 की जिस आज़ादी
 को फैज़ ने 'दाग-दाग उजाला' कहा था,
 वह आधी सदी बीतते-बीतते भादो की
 अमावस की काली रात में तब्दील हो चुकी
 है। देश जल रहा है। ज़ालिम नीरो की
 जारज औलादें बांसुरी बजा रही हैं।

इस मौके पर हम अली सरदार जाफरी
 को श्रद्धांजलि देते हुए उनकी यह नज़म
 'आह्वान' में फिर से प्रकाशित कर रहे हैं
 जो उन्होने 1948 में लिखी थी पर जिसका
 एक-एक लफ़्ज़ जैसे आज की ही बात
 करता है।

—संपादक

आहान के बारे में कुछ महत्वपूर्ण विचारबिन्दु

> भारतीय क्रान्ति का रास्ता मेहनतकश वर्गों के नेतृत्व में साम्राज्यवाद-पूँजीवाद विरोधी क्रान्ति का रास्ता है। यह नई समाजवादी क्रान्ति का रास्ता है। यह शहीदों आजम भगतसिंह का रास्ता है। क्रान्ति ही नाउम्पीदों की उम्पीद है। रसातल के अंधेरे में जीने वालों की जिन्दगी की रोशनी है। पृथु के अवसाद को तोड़ने वाला उत्सव का आहलाद है। “आहान” इस तूफान का मुक्त कंठ से आहान करता है। “आहान” इस तूफान का आनन्द लेने के लिए सभी युवा तूफानी पितरेल पक्षियों को न्यौता देता है।

> पूरा भारतीय समाज आज एक ज्वालामुखी के दहाने पर बैठा है। अब यह सच्चाई एकदम उजागर हो चकी है कि रुण-विकलांग, बूढ़ा-बौना भारतीय पूँजीवाद आज जनता को कुछ भी सकारात्मक नहीं दे सकता। मेहनतकशों की जिन्दगी को इसने लूटपार, उत्तीन-शोषण और असह्य पीड़ा-व्यथा के अंधेरे रसातल में ढकेल दिया है। अथाह दुखों के सागर में ऐश्वर्य के द्वीप और विलासिता की मानरे, संसद में पूँजीपतियों की दलाल चुनावी पाटियों के बहसबाजों की धींगामुश्ती, विदेशी लटेरों को टूट की खुली छूट, भ्रष्टाचार के नित-निरन्तर भंग होते कीर्तिमान, संवेदनाओं को कुंद करती विकृत-बीमार साम्राज्यवादी-पूँजीवादी संस्कृति का धीमा जहर, संचार पार्थ्यों पर पूँजी की सर्वग्रासी पकड़, दिवालिया अर्थतंत्र, नंगा राजनीतिक तंत्र, बिकता न्याय, बेतहाशा मंहगी होती जा रही निरर्थक अनुपयोगी-अवैज्ञानिक शिक्षा, मामूली चिकित्सा के अभाव में मरते लोग—यही आज का वह नारकीय सत्य है जिसे फिलहाल, हारी हुई मानसिकता के शिकार लोगों ने अपनी नियति मान लिया है। इसे बदलने का रास्ता क्रान्ति का रास्ता है। क्रान्ति कठिन है, क्रान्ति का रास्ता लम्बा है, ध्वंसकारी है, पर इसके बिना नये का निर्माण असम्भव है। यही आज का ठण्डा सत्य है—नंगा सत्य है—पर यही मुक्तिदायी सत्य है। यही ‘आहान’ का निर्भीक उद्योग है।

आहान

कैप्स टाइम्स

मुक्तिकामी छात्रों-नौजवानों की
त्रैमासिक पत्रिका

वर्ष 9 अंक 2 जुलाई-सितम्बर 2000

इस अंक में

आपनी ओर से

भावी जनज्वार की अगवानी की तैयारी करो

6

शिक्षा जगत

शिक्षा पर नया हमला : उच्च शिक्षा के खर्च में भारी कटौती

8

उत्तर प्रदेश सरकार की उच्च शिक्षा सुधार योजना-2000

10

जे.एन.यू. परिसर का जनतंत्र अब प्रशासकों की आंखों में चुभने लगा

12

शासन के खेरखाह एक कुलपति की कारस्तानियां

13

दुनिया जहान में

मेक्सिको के छात्रों का शानदार, प्रेरक संघर्ष

15

जनता के न्याय का एक अद्भुत दृश्य

33

विशेष लेख

स्वयंसेवी संगठनों से सावधान

19

दोषियार! खबरदार!

सामाजिक-सांस्कृतिक तने-बाने को साम्प्रदायिक रंग में रोगों की कुचेष्टाएं

22

‘संस्कृति के टेकेदारों’ के बढ़ते फासिस्ट हमले

23

भगवा पाठ्यपुस्तकों की एक बानगी

24

जोशी, वाजपेयी और नायदू को बी.एच.यू. द्वारा मानद उपाधियां

24

इतिहास के साथ एक बदसलूकी यह भी

26

अब टाडा से भी खतरनाक ‘पोटा’ कानून की बारी

27

एक बौराई बर्बर व्यवस्था

29

ओल

ओलम्पिक और भारत

31

पुस्तक परिवर्य

एक अत्यन्त सामयिक पुस्तक—मां

साहित्य

कविताएं / छात्रों के प्रति : बोर्टल्ट ब्रेट, सोचो : चन्द्रकान्त देवताले

14

युवा युयुत्सु युनाम : शाशि प्रकाश

17

व्यंग्य / अतिरिक्त ज्ञान : लू शुन

30

कहानी / यंत्रणागृह : अन्वर्ट टोलर

38

विज्ञान

करोड़पति बनने को ललचाता दिवातिया महानायक • गुर्दों की खेती

39

सिलेमा

हालीवुड का नया मसीही उपदेश

41

छापिए हैं कहाने

एक शिल्प समझात सार्वजनिक साज़ा

35

एक शिल्प समझात सार्वजनिक साज़ा

एक प्रति का मूल्य

छह रूपये

वार्षिक

चौबीस रूपये

(डाक व्यवस्था अतिरिक्त)

सम्पादकीय कार्यालय : कल्याणपुर, गोरखपुर-273001 फोन : 338922

स्वत्वाधिकारी आदेश सिंह द्वारा नौजवान कार्यालय, कल्याणपुर, गोरखपुर से प्रकाशित एवं

उन्होंके द्वारा आफसेट प्रेस, नखास, गोरखपुर से मुद्रित।

भगतसिंह ने कहा



“सभी देशों को आजाद करवाने वाले वहाँ के विद्यार्थी और नौजवान ही हुआ करते हैं। क्या हिन्दुस्तान के नौजवान अलग-अलग रहकर अपना और देश का अस्तित्व बचा पायेंगे? नौजवान 1919 में विद्यार्थियों पर किये गये अत्याचार भूल नहीं सकते। वे पढ़ें। जरूर पढ़ें। साथ ही पॉलिटिक्स का भी ज्ञान हासिल करें और जब जरूरत हो तो मैदान में कूद पड़ें और अपने प्राणों का इसी में उत्तर्सग कर दें। वरन् बचने का कोई उपाय नजर नहीं आता।”

- भगतसिंह

(‘विद्यार्थी और राजनीति’, जून, 1928 में ‘किरती’ पत्रिका में प्रकाशित लेख)

उक्त अपील

‘आहान कैम्पस टाइम्स’ सारे देश में चल रहे वैकल्पिक मीडिया के प्रयासों की एक कड़ी है। हम सत्ता प्रतिष्ठानों, फणिंडंग एजेंसियों, पूँजीवादी धरानों एवं चुनावी राजनीतिक दलों से किसी भी स्तर में आर्थिक सहयोग लेना घोर अनर्थकारी मानते हैं। जनता का वैकल्पिक मीडिया सिर्फ जन संसाधनों के बूते खड़ा किया जाना चाहिए—हमारी यह दृढ़ मान्यता है।

अतः हम अपने सभी पाठकों-शुभचिन्तकों-सहयोगियों से अपील करते हैं कि वे अपनी ओर से अधिकतम सम्भव आर्थिक सहयोग भेजकर परिवर्तन के इस हथियार को मजबूती प्रदान करें।

पाठक मंच

गैर जनवादी शिक्षण व्यवस्था और छात्रों-नौजवानों का संकट

किसी भी समाज के सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक संकटों को उस समाज की युवा पीढ़ी की समस्याओं में ढूँढ़ा जा सकता है।

अठारह साल की उम्र में जहाँ नौजवान की आंखों में नये-नये सपने, जीवन में कल्पनाशीलता, जिज्ञासा और सत्य की जीत में पूर्ण विश्वास होना चाहिए दर्हीं आज का नौजवान सर्वाधिक चिन्ताग्रस्त है। उसका भविष्य अन्धकारमय है क्योंकि मौजूदा शिक्षा व्यवस्था का रोजगार से दूर-दूर तक कोई सम्बन्ध दिखायी नहीं देता।

किसी शिक्षण व्यवस्था की उपर्योगिता और उसकी जनवादिता व्यवहार में उसके अभ्यास पर निर्भर करती है। लेकिन हमारी शिक्षा व्यवस्था सामाजिक व्यवहार से पूर्णतः कटी हुई है। विज्ञान का छात्र अपनी पढ़ाई पूरी कर जब औद्योगिक क्षेत्रों में जाता है तो उसकी पिछली पढ़ाई की कोई सार्थकता नहीं होती। उसका ज्ञान सिर्फ प्रतियोगी परीक्षाओं की बाधा पार करने के काम में आती है। इसके साथ ही, विज्ञान युग के नाम पर हमारी शिक्षा व्यवस्था में सामाजिक विषयों की धोर उपेक्षा दिखायी दे रही है और जो पढ़ाई होती है उसका भी जीवन में कोई अभ्यास नहीं कराया जाता। यदि पढ़ाई जीवन से जुड़ी होती तो नौजवान देश के विकास में अपनी भूमिका को समझ पाता और समाज निर्माण की प्रक्रिया से जुड़ पाता। मेरी राय में शिक्षा का स्वरूप इस प्रकार का होना चाहिए कि विद्यार्थी जीवन में छात्रों को समाज में लोगों के बीच भेजा जाये।

शासक वर्ग की हमेशा कोशिश रहती है कि कुछ ऐसी बाधाएं तैयार करो जिससे नौजवान अपनी बदलत रिस्ति के लिए खुद को ही जिम्मेवार माने और उसकी विप्लवी शक्ति के आक्रोश को शान्त किया जा सके। इसके लिए प्रतियोगिता की बाधा उत्पन्न करने से लेकर विद्यार्थियों को पढ़ने तक के अधिकारों से वर्चित किया जा रहा है। इसी के तहत विश्वविद्यालयों में सीटों की संख्या में कटौती की जा रही है।

आज नौजवानों को शासक वर्ग की सजिशों को समझना होगा। इस व्यवस्था के पास न तो कल ही रोजगार थे और न ही आज क्योंकि

बेरोजगारी का सीधा सम्बन्ध पूँजी की उस गति से है जो अधिक हाथों से कम हाथों की ओर बढ़ती है। पूँजी की इसी गति पर सवार होकर शासक वर्ग तथा तमाम पूँजीपति प्रतिष्ठान रंगरेलियाँ मना रहे हैं।

अपनी समस्याओं से निजात पाने के लिए नौजवानों को अर्थशास्त्र की इस मूलभूत बात को समझना होगा। छात्रों को शासक वर्ग की राजनीति से बाहर पूँजी की गति के स्तर को बदलने वाले राजनीतिक अर्थशास्त्र का अध्ययन करना होगा। आज नौजवानों को अपनी शक्ति को जनता की शक्ति के साथ लयबद्ध करना होगा तभी हमारे संकटों-समस्याओं से निजात मिल सकती है।

विजय गोविन्द सिंह
विज्ञान संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

कब दूर होगी हमारी असुरक्षा

‘आहान’ के जरिये मैं कुछ बातें कहना चाहती हूँ।

आजकल के दौर में हम सभी लड़कियों और महिलाओं की एक ही समस्या है—हमारी आत्मिक एवं शारीरिक सुरक्षा। समाज में हम अपने आपको कहाँ भी सुरक्षित नहीं महसूस कर पाते। चाहे घर हो या बाहर। जब हम कहाँ जाते हैं तो सबसे पहले हमें यही कहा जाता है कि शाम से पहले घर चली आना, जमाना बहुत खराब है। आखिर यह जमाना क्यूँ खराब है? किस तरह से खराब है और इसका जिम्मेदार कौन है? आखिर इन सवालों का जवाब कौन देंगा?

इसी तरह के अनेक सवाल मेरे मन में उत्पन्न होते रहते हैं जिनके जवाब न मिलने पर वे वहाँ के वहाँ रह जाते हैं। हमारे साथ कोई भी, जैसा भी व्यवहार करना चाहता है अपनी मर्जी से करके चला जाता है। हम चाहे सड़कों पर हों या कालेजों में, या दफ्तरों-कारखानों में, स्कूलों को हमेशा ही दबाया जाता है तथा हम लोगों का शोषण किया जाता है। चाहते हुए भी हम कुछ नहीं कर पाते क्योंकि हमारी आवाज इस पुरुष प्रधान समाज में किसी को सुनायी नहीं पड़ती।

मेरी समझ से इन सबका एक कारण देश का संविधान भी है। कहने के लिए तो दोरों कानून बने हैं लेकिन लगता है सख्ती जैसी कोई चीज है ही नहीं। कोई भी व्यक्ति इसे

पैसे के बल पर तोड़-मरोड़ सकता है।

कहने के लिए स्त्रियों को कहीं-कहीं आरक्षण का अधिकार प्राप्त है। हो सकता है कुछेक स्त्रियों या लड़कियों को कुछ अधिकार प्राप्त हो जाये या एकाध मामलों में न्याय भी मिल जाये, परन्तु हमारे बुनियादी अधिकारों को बेरहमी से कुचल दिया जाता है।

ऐसा है हमारा समाज! आखिर यह समाज कब बदलेगा? हमें सुरक्षा कब प्राप्त होगी? कब यहां का कानून सबके लिए एक समान होगा और सख्त होगा? मैं समझती हूँ यदि हर छोटे-बड़े अपराध के लिए कड़ी से कड़ी सजा दी जाती तो शायद यह समाज बहुत हद तक सुधर जाता।

वन्दना अग्रहरि

डी.ए.वी. डिग्री कालेज, गोरखपुर

बिरसा मुण्डा भी प्रगतिशील थे

'आहान' का जनवरी-मार्च 2000 अंक मिला। 'हमारी विरासत' स्तम्भ में आपने बिरसा मुण्डा और उनके समकालीन समाज पर महत्वपूर्ण टिप्पणी प्रकाशित की है। आदिवासियों एवं दिलित जातियों के संघर्षों को इतिहास के पृष्ठों में जगह नहीं दी गई। बिरसा का यह मूल्यांकन सर्वथा धिन प्रकार का है। इसमें उस वर्ग की स्थिति को अनदेखा नहीं किया गया है जिसमें बिरसा जैसे लोगों ने जन्म लेकर गैर प्रगतिशील आधारों पर अपने लोगों को संगठित करके संघर्ष किया। आदिवासियों के इस संग्राम के दूसरी ओर साम्राज्यवाद के विरुद्ध चला लम्बा युद्ध भी बहुत समय तक धर्म और ईश्वर के बखेड़े से अपने को मुक्त नहीं कर सका। भगतसिंह युग में पहुँचकर ही वह पूरी तरह क्रान्तिकारी चेतना से लैस हो पाया। परन्तु चीजों को उनकी तत्कालीन सामाजिक स्थितियों और विकास क्रम के साथ देखा जाये तो बिरसा भी प्रगतिशील थे, अशफाक और भगत सिंह थी।

सुधीर विद्यार्थी
बीसलपुर, पीलीभीत

सही दिशा में कदम

'आहान' के नवीनतम अंक मिले।

इस क्रान्तिकारी पत्रिका के माध्यम से आप पूँजीवाद के विश्वव्यापी खतरे के सार्थक प्रतिकार का स्वर मुखित कर रहे हैं, जो आश्वस्त करता है। इस दिशा में साहित्य की भी भूमिका को आपने दृष्टिपथ में रखा है। खास तौर पर ब्रेष्ट, पाश, प्रेमचंद सहित अनेक प्रगतिमुखी रचनाकारों

तथा विचारकों को भी 'आहान' में शामिल कर आपने अपने सही दिशा में कदम रखा है। फिर भी प्रयत्न करें कि कहीं अतिवादिता न हो क्योंकि जमीनी यथार्थ को पहचानने और सांस्कृतिक वातावरण के साथ हमकेदम हुए बगैर समग्र परिवर्तन सम्भव नहीं हुआ है। समाजवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था के बीच से भी रास्ता तलाशने की कोशिश की जानी चाहिए।

डा. शैलेन्द्र कुमार शर्मा

वरिष्ठ प्राध्यापक, हिन्दी अध्ययनशाला
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन (म.प्र.)

मैं आपके साथ हूँ

'आहान' पढ़ने के बाद मुझे दृढ़ विश्वास हो गया है कि सचमुच यदि आज की युवा पीढ़ी तैयार हो जाये तो कोई भी अप्रत्याशित लगाने वाली सफलता पायी जा सकती है। आज के इस पूँजीवादी दौर में आपका प्रयास सराहनीय है जो बिना स्वार्थ उस दिशा में कार्यरत है जिसकी सफलता निरप्रतीक्षित है। मैं उन सभी मित्रों के साथ हूँ जो आहान से जुड़े हैं।

'आहान' पत्रिका में मुझे मैक्सिको और ईरान के छात्रों के आनंदोलन पर सामग्री तथा 'धर्म का धंधा' नामक टिप्पणी ज्यादा पसन्द आयी।

राकेश कुमार श्रीवास्तव
मुजफ्फरपुर (बिहार)

अच्छा अंक

'आहान' का जनवरी-मार्च 2000 अंक काफी अच्छा है। खुरदुरे कागज पर पूरी तल्खी के साथ उगे शब्द मस्तिष्क को झनझना देते हैं।

रविशंकर रवि
सम्पादक 'उलुपी', गुवाहाटी

विचारों में क्रान्ति पैदा करने वाला

अनायास ही 'आहान' का अक्टूबर-दिसम्बर 1999 का अंक पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। पढ़कर विचारों में एक तरह की क्रान्ति सी पैदा हुई। पत्रिका आजकल की भ्रष्ट राजनीति का विकल्प प्रस्तुत करती है। इसके लिए मैं आपकी प्रशंसा करते हुए साधुवाद देता हूँ।

सुनील कुमार शर्मा
गोकुलपुरा, आगरा

सान्दर्भिक और विज्ञान सम्मत

'आहान' के कुछ अंक मैंने भी पढ़े। पत्रिका विशेष रूप से छात्र समुदाय को संगठित करने का प्रयास कर रही है जो बहुत ही सान्दर्भिक और विज्ञान सम्मत है।

चीनी क्रान्ति के महान नेता माओ त्से-तुङ ने कहा है :

"यह देश तुम्हारा भी है और हमारा भी लेकिन अन्तिम विश्लेषणों में यह देश तुम्हारा है।"

युवा वर्ग को प्रोत्साहित करने में माओ की यह उक्ति अमर रहेगी।

'आहान' के जनवरी-मार्च 2000 अंक में 'अग्निदीक्षा' पुस्तक के बारे में सरल और प्रेरक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। 'मैक्सिको के विद्रोही छात्रों को सलाम' और 'ईरान में छात्रों का संघर्ष' से लेकर सभी लेख बहुत उपयोगी हैं। 'आहान' का नियमित पाठक बनना चाहता हूँ कृपया भेजने की कृपा करें।

'आहान' की उन्नति की कामना करता हूँ।

भरत शर्मा

न्यू जलपाईगुड़ी (प.बं.)

हमारी पत्रिका

'आहान' को पढ़कर लगा कि यह हमारी पत्रिका है। हमारे छात्र जीवन के संघर्ष और क्रान्तिकारी रिश्तों को इसने जीवित कर दिया। पूरी दुनिया को क्रान्तिकारी राह से हटाकर उदारता एवं मिथक के भ्रमजाल में उलझाने के दौर में 'आहान' की ऊर्जा एवं ऊष्मा से संचालित जीवनदृष्टि आज की युवा पीढ़ी के लिए अनिवार्य हो जाती है। ऐसी पत्रिका की सख्त जरूरत है।

आज शब्दों के जादूगर

शब्दों के मायाजाल में

तुम्हारी निष्ठा को

तुम्हारी यात्रा के लक्ष्य को

तुम्हारी भूख और गरीबी को

छुपा देना चाह रहे हैं।

थैलीशाहों के ये दलाल हैं।

तुम्हारा कोई आखिरी पड़ाव नहीं

जिन्दगी को रचने की प्रक्रिया

तब तक जारी रहेगी

जब तक मानव की सम्पादनाएं बच्ची रहेंगी

जब तक पूरा नहीं होगा जीवन का यह सपना

संघर्ष का रास्ता ही अपना रास्ता है साथी

इसलिए निर्णय तुम करो।

गणेश चन्द राही, मुम्हइं

भावी जनज्ञान की अगवानी की तैयारी करो

कुछ अपरिहार्य विवशताओं के कारण 'आहान' का यह अंक एक अंक (अप्रैल-जून 2000) के अंतराल के बाद पाठकों तक पहुंच रहा है। एक पाक्षिक बुलेटिन के रूप में 1991 में प्रकाशन की शुरुआत से लेकर अनेक सीमाओं-समस्याओं-अवरोधों को पाठकों-मित्रों-शुभचिन्तकों के सहयोग के दम पैर पार करते हुए हमने यह यात्रा आज तक जारी रखी है। 'आहान' टीम के पुनर्संगठन की जिन कोशिशों के तहत हमने नियमित पाक्षिक अखबार के स्थान पर एक त्रैमासिक पत्रिका के रूप में इसे प्रकाशित करने का निर्णय लिया था, वह प्रक्रिया अभी भी जारी है। पत्रिका के एक अंक का अन्तराल भी इसी वजह से हुआ। लेकिन, हमें पूरा विश्वास है कि जनसंसाधनों और जनशक्ति में अडिंग आस्था के बूते पर हम 'आहान' के त्रैमासिक स्वरूप को नियमित बनाते हुए पाक्षिक अखबार के मूल स्वरूप को फिर से बहाल कर पायेंगे। जिस जरूरत के अहसास के साथ एक पाक्षिक के रूप में 'आहान' की शुरुआत हुई थी आज वे जरूरतें नये सिरे से एक ऐसे नियमित अखबार के प्रकाशन की मांग कर रही हैं जो व्यापक छात्र-युवा आबादी के बीच परिवर्तनकामी विचारों के प्रचार-प्रसार का मजबूत संवाहक बने।

'आहान' के प्रवेशांक (7-21 अगस्त 1991) में हमने लिखा था : "आज हमारा देश आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक जड़ता और ठहराव के जिस मुकाम पर पहुंच चुका है वहां से एक सर्वव्यापी-सर्वश्राही सामाजिक क्रान्ति का प्रबल वेगवाही प्रवाह ही उसे आगे बढ़ा सकता है। और हमेशा की तरह खतरों-चुनौतियों और कुर्बानियों से भरी इस जिम्मेदारी का दायित्व इतिहास ने छात्रों-नौजवानों के कन्धों पर सौंपा है। और इस दायित्व को पूरा करने के लिए सामाजिक परिवर्तन की प्रबल इच्छाशक्ति के साथ ढूँढ़ निश्चय और संकल्पशक्ति के धनी छात्रों-युवाओं को आगे आना होगा। समाज में एक नये सामाजिक नवजागरण और प्रबोधन का बिगुल फूंकना होगा। निराशा और पस्तहिम्मती में पड़े हुए सुषुप्त समाज में एक नयी आशा, नयी जागृति और नयी प्रेरणा का संचार करना होगा। बहुविध और बहुआयामी राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक सक्रियताओं में प्रत्यक्ष शिरकत करते हुए युवाओं को स्वयं को सामाजिक परिवर्तन के प्रभावी उपकरण के रूप में विकसित करते हुए पूरे समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना का उन्नयन करने का जटिल और खतरों से भरा, लेकिन अपरिहार्य गुरुतर दायित्व पूरा करने का बीड़ा उठाना पड़ेगा। आहान कैम्पस टाइम्स इस जरूरत के अहसास से निकलने वाली अपनी भूमिका को पूरी संजीदगी के साथ निभाने का निरन्तर प्रयास करता रहेगा और इस दिशा में छात्रों-युवाओं का प्रयासों का सहभागी बनेगा।"

यह था हमारा अहसास, जिसकी जमीन पर खड़े होकर हमने अपनी यात्रा की शुरुआत की थी। आठ वर्ष से भी अधिक समय के सफर के दौरान हमें ढेरों नये हमसफर मिले हैं। इसने हमारे संकल्पों को लगातार मजबूत बनाया है। लेकिन, हम किसी प्रकार की आत्मतुष्टि का शिकार हुए बिना यह महसूस करते हैं कि हमें अपने प्रयासों को और तेज करना होगा। हमें और अधिक सृजनात्मकता के साथ अपने दायित्व को पूरा करना होगा और अपने हमसफरों का दायरा और अधिक तेजी के साथ बढ़ाना होगा।

हां, निस्सन्देह हमें अपनी तैयारियों को तेज कर देना होगा क्योंकि समाज के अन्तर्स्तल में दाब तेजी से बढ़ता जा रहा है जो आने वाले प्रचण्ड ज्वार का पूर्वसंकेत है।

अपनी ओर से

अपने संकटों से उत्पन्न मजबूरियों से देश के सत्ताधारी आत्मधाती डगर पर आज काफी दूर निकल आये हैं जहां से पीछे लौटना अब न तो उनकी चाहत है और न ही अब यह सम्भव है। आर्थिक "सुधारों" के दूसरे दौर में निजीकरण-उदारीकरण की अभूतपूर्व विनाशलीला रचने पर वे आमादा हो चुके हैं। बीमा क्षेत्र के बाद अब अर्थव्यवस्था के बचे-खुचे क्षेत्रों-बैंकिंग, ऊर्जा, संचार, परिवहन, कोयला, इस्पात, सिंचाई आदि क्षेत्रों को देशी-विदेशी निजी पूँजीपति लुटेरों को सुपुर्द कर देने की दिशा में कदम बढ़ा दिये गये हैं। विरोध को कुचलने-दबाने की रणनीति भी बना ली गयी है। कर्मचारियों की स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति, अनिवार्य सेवानिवृत्ति के साथ-साथ जबरिया छंटनी का नया सिलसिला शुरू होगा। एक बार फिर न्यायपालिका ने शासक वर्ग के प्रति पूरी वफादारी दिखाते हुए सरकारी प्रतिष्ठानों के "फालतू" कर्मचारियों को निकाल बाहर करने का फैसला भी सुना दिया है। इस हथियार के मिलते ही अब सरकारी विभागों में "फालतू" कर्मचारियों की सूचियां बननी शुरू भी हो चुकी हैं।

इन सब हथकण्डों के बाद अन्तिम हथियार तो सुरक्षित ही हैं—लाठी, गोली, जेल।

इसके साथ ही निजी पूँजीपतियों के हाथ खुले कर देने वाला नया श्रम कानून भी लागू होने में अब सिर्फ तकनीकी अड़चनों के दूर होने की देर है। अब कारखाना मालिक जब जरूरत होगी मजदूरों को काम पर रखेंगे। जरूरत खत्म तो निकाल बाहर करेंगे। काम के घण्टे, सेवा शर्तों आदि को तय करने में भी उन्हें काफी छूटें मिल जायेंगी। मजदूरों-मालिकों के बीच किसी विवाद में अब सरकार बीच में नहीं पड़ेगी। कई ऐसे विशेष औद्योगिक क्षेत्र होंगे जहां किसी किस्म के श्रम कानून लागू ही नहीं होंगे। नये श्रम कानून की यही मुख्य बातें हैं। जाहिर है श्रमिकों के शोषण-उत्पीड़न का जो नया दौर शुरू होगा उसकी तुलना अब सिर्फ आरम्भिक पूँजीबाद के वर्बर दिनों से ही की जा सकती है।

इतना ही नहीं, राज्य द्वारा प्रदत्त सीमित जनसुविधाओं में कटौतियों का सिलसिला भी और तेज हो गया है। वर्ष 1999-2000 के बजट में उर्वरक और खाद्य सब्सिडी में व्यापक कटौतियों और केन्द्र व राज्य कर्मचारियों के भविष्य निधि खातों पर ब्याज दरों में एक प्रतिशत की कटौती के बाद अब सरकारी अस्पतालों एवं मेडिकल कालेजों के विभिन्न शुल्कों में भी भारी बढ़ोत्तरी कर दी गयी है। बच्चे-खुची सुविधाओं पर भी कुठाराघात कर बाजार की शक्तियों के खुले खेल की सारी बाधाओं को दूर करने की सरकार बन चुकी है।

नया शैक्षणिक सत्र शुरू होते ही शिक्षा के बाजारीकरण की भुग्तान भी तेज हो गयी है। केन्द्र और राज्य सरकार के सभी विश्वविद्यालयों-कालेजों में मौजूदा सत्र में एक बार फिर भारी शुल्क बढ़ि और सीटों में कटौती कर लाखों छात्रों के लिए उच्च शिक्षा के दरवाजे बन्द कर दिये गये हैं। समृच्छी शिक्षा व्यवस्था को देशी-विदेशी पूँजीपतियों की भूमण्डलीकरण की नयी जरूरतों के अनुसार बदलने की प्रक्रिया तेज हो गयी है।

शिक्षा व्यवस्था शासक वर्ग की जरूरतों को पूरा करने का एक उपकरण ही होती है। पुरानी मिश्रित अर्थव्यवस्था की जरूरतों के अनुसार खड़ा किया गया शिक्षा का ढांचा अब शासक वर्गों की नयी जरूरतों के लिए पुराना पड़ गया है। अब पुराने किस्म के डाक्टर, इंजीनियर, तकनीशियन, प्रबन्धक, प्रशासक, शिक्षक और बाबू मौजूदा 'साइबर युग' के साथ मेल नहीं खा सकते। अब नये किस्म के कल-पुर्जों को तैयार करने के लिए 'शिक्षा के कारखानों' का नवीनीकरण करना जरूरी है। अब मानवीय संवेदना, जनर्तात्रिक मूल्यों और सामाजिक सरोकारों से रहित आत्मकेन्द्रित, स्वार्थी, निरंकुश सर्वसत्तावादी मूल्यों से लैस बाजारू किस्म के नये मानव संसाधन चाहिए। इसलिए, पाठ्यक्रमों में व परीक्षा प्रणाली में हर स्तर पर फेरबदल किये जा रहे हैं। राज्य मशीनरी के सर्वाधिक वफादार एवं कुशल कल-पुर्जों की भर्ती करने वाली संस्था संघ लोक सेवा आयोग ने भी प्रतियोगिता परीक्षाओं के पाठ्यक्रम एवं परीक्षा प्रणाली में "गुणात्मक" फेरबदल करने का निर्णय लिया है।

शासक वर्ग के चौतरफा हमलों से जो परिदृश्य निर्मित हो रहा है उससे अब "सुधारों" को लेकर कोई भी भ्रम आम जनता के किसी भी हिस्से में नहीं रह गया है। कारखानों-दफ्तरों से ठेलकर सड़कों पर खड़े कर दिये कर्मचारी-मजदूर, तबाह-बरबाद हो रहे किसान और स्कूलों-कालेजों-विश्वविद्यालयों से धकियाकर भविष्य की अंधेरी सुरंग में पहुंचा दिये जा रहे मेहनतकर्शों के बेटे-बेटियां अब बहुत दिनों तक अपनी-अपनी पीड़ाओं को जज्ब किये खामोश नहीं बैठेंगे। यह चुप्पी टूटेगी। निश्चय ही। आज की खामोशी और यह घुटन आने वाले ज्वार की आहट है। यह कोरा आशावाद नहीं। समाज की अन्दरूनी हलचलों को महसूस करने वाले लोगों के लिए इस नतीजे पर पहुंचना कठिन नहीं है। पहले के समयों में ऐसा ही हुआ है, आज भी यही होने वाला है।

भविष्य को इस आहट को शासक वर्ग भाष्प चुका है। आखिर उसके पास भी इतिहास का निचोड़ मौजूद है।

जनता की रकमज्जा तक निचोड़ लेने के बावजूद शासक वर्ग आज अपने संकटों को दूर नहीं कर पा रहा है। अर्थव्यवस्था का ठहराव बदस्तूर जारी है। सूचना, संचार और मनोरंजन उद्योग के नये सम्भावनायुक्त क्षेत्रों को अधिकतम सीमा तक निचोड़ लेने के बावजूद पूँजीवाद के बुनियादी संकट—मुनाफे की बढ़ि दर बढ़ने और बाजार के लगातार विस्तार का संकट—का कोई दीर्घकालिक समाधान नहीं सूझा रहा है। शेयर मार्केट में रह-रहकर आने वाली उछालों और सिर्फ अल्पकालिक राहतों से पैदा हुई खुशी अगले ही पल मायूसी में बदल जाती है। ऐसे में, अपने संकटों का और अधिक बोझ आने वाले दिनों में जनता पर लादना उसकी मजबूरी है। इसके फलस्वरूप जनअस्तोष का घनीभूत होना और उसका विस्फोट करना भी लाजिमी है। इसीलिए, शासक वर्ग आज अपने दमन तंत्र को भी चाक-चौबन्द कर रहा है।

तमाम बुर्जुआ पत्र-पत्रिकाओं, उदारवादी बुर्जुआ जनों और राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग तक के विरोध के बावजूद नये खतरनाक आंतकवाद विरोधी कानून ('टाडा' के स्थान पर नया 'पोटा' कानून) को किसी भी कीमत पर लागू करने की सरकार की जिद के पीछे यही कारण है। कौन नहीं जानता कि 'टाडा' ('टेररिस्ट एण्ड डिसरप्टिंग एक्टिविटीज') व 'रासुका' (राष्ट्रीय सुरक्षा कानून) जैसे कानूनों का उपयोग किसके खिलाफ किया जाता है। आंतकवाद और राष्ट्रीय सुरक्षा के नाम पर जनसंघर्षों से जुड़े कार्यकर्ताओं, प्रगतिशील बुद्धिजीवियों, पत्रकारों एवं जनर्तात्रिक अधिकार कार्यकर्ताओं पर ही इनका सर्वाधिक प्रयोग किया जाता रहा है, यह सर्वाविदित है। अमेरिकी खुफिया विभाग (एफ.बी.आई.) का

देश में दफ्तर खोलना, राजनीतिक हत्याओं में माहिर कुछात इसायली खुफिया एजेंसी 'मोसाद' के तजुबों व कार्यप्रणाली से सीखने की तत्परता व आन्तरिक सुरक्षा पर खतरों की चीखपुकार, पुलिस अधिकारियों को विदेशों में भेजकर प्रशिक्षण दिलवाना आदि शासक वर्ग की तैयारियों के ही उदाहरण हैं।

जाहिर है, शासक वर्ग आकलन कर चुका है कि आने वाले दिनों में उसे प्रचण्ड जनज्वारों से लोहा लेना है। इसलिए वह अपनी तैयारियों में जुटा हुआ है। इसलिए, हमें भी निश्चिन्त नहीं बैठना चाहिए। हमें भी अपनी तैयारियां तेज कर देनी चाहिए।

इसलिए, हम सभी बहादुर, मुक्तिचेता नौजवानों का आहान करते हैं कि वे भावी जनज्वार की अगवानी की तैयारी करने में जुट जायें।

वाजपेयी सरकार का शिक्षा पर नया हमला : उच्च शिक्षा के खर्च में भारी कटौती

अधिनव सिन्हा

बाजार की पुजारी भाजपा सरकार ने बाजार के लिए अपनी वफादारी का ताजातरीन नजराना प्रस्तुत किया और विश्व बैंक के सभी शिक्षा सम्बन्धी फरमानों को टो कदम आगे बढ़कर लागू करते हुए विश्वविद्यालय के शुल्कों में भारी बढ़ोत्तरी कर दी है। इसके पहले मानव संसाधन विकास मंत्री मुरली मनोहर जोशी ने कुछ अद्भुत तर्क दिये, मसलन, उन्होंने कहा कि जब वे स्वयं छात्र थे तब से फीसें बढ़ी ही नहीं हैं, लिहाजा अब फीसें बढ़ना स्वाभाविक है। इसके अलावा और भी हास्यास्पद तर्क दिये गये हैं बढ़ोत्तरी के पक्ष में, जिन पर हम बाद में आयेंगे।

मानव संसाधन विकास मंत्री के उपरोक्त तर्क के विपरीत सच्चाई यह है कि नई आर्थिक नीतियां लागू होने के बाद से फीसों में औसतन 7 से 10 गुना तक

की बढ़ोत्तरी हो चुकी है। कुछ क्षेत्रों में तो इससे भी ज्यादा विडम्बना तो यह है कि इसके पीछे दी जाने वाली सरकारी दलीलों के झाँसे में कई तथाकथित प्रगतिशील बुद्धिजीवी भी आ जा रहे हैं। शिक्षा के क्षेत्र में दुर्व्वर्वस्था को अन्य क्षेत्रों की तरह ही बाजार-पुजारी भाजपा सरकार निजीकरण की दलीलें गढ़ने के लिए इस्तेमाल कर रही है। यह पूरी प्रक्रिया शुरू तो 1991 से ही हो गयी थी, लेकिन इसको अब असली रफ्तार मिली है, जब स्वदेशी का ढोल बजाने वाले सत्ता में काबिज हैं। अब देश भर में फैले 243 विश्वविद्यालयों के 46 लाख छात्रों पर पांच गुना तक बढ़ी हुई फीसों का बोझ डालने की तैयारियां हो चुकी हैं। शिक्षा की अपनी जिम्मेदारी से साफ-साफ पीछे हटते हुए सरकार यह कह रही है कि वह उच्च शिक्षा के बढ़ते हुए खर्चों को उठाने की स्थिति में नहीं रह गई है। सरकार के अनुसार, “उच्च शिक्षा व्यवस्था को सामाजिक तौर पर प्रार्थनिक,

विविधतापूर्ण, गुणवत्ता शूलक और सूचना तकनीक उन्मुख बनाने के लिए जितने बड़े पैमाने पर आर्थिक संसाधनों की जरूरत है उसे जुटा पाना सरकार की कूत्रत के बाहर है इसलिए बाहरी स्रोतों से संसाधन जुटाने पर जोर दिया जाना चाहिए।” एक और अजीब बात यह है कि सरकार की जनविरोधी हरकतों के समर्थन में खुशहाल मध्यवर्ग सरकार से भी पहले तर्क देने लगता है। यह तर्क सरकारी दलीलों से भी अधिक प्रतिक्रियादारी होते हैं और इनसे स्वार्थपन और अमानवीयता की बू आती है। मसलन यह अक्सर सुनने को मिलता है कि बेचारी सरकार पैसा कहां से लाये, या फिर यह कहना कि गरीब निकम्मे हैं इसीलिए तो गरीब है, जो

मेंटेनेंस खर्च की समीक्षा के लिए अनादृत विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति प्रो. आनन्दकृष्णन की अध्यक्षता में एक दूसरी कमेटी बनायी। इन दोनों कमेटियों की रिपोर्ट यू.जी.सी. को मिल चुकी हैं और मानव संसाधन विकास मंत्रालय और यू.जी.सी. की एक उपकमेटी इन रिपोर्टों के आधार पर विश्वविद्यालयों की बढ़ी हुई फीसों का नया ढांचा तैयार कर रही है। इसके अनुसार विश्वविद्यालयों और कालेजों को इसी सत्र से अपने कुल बजट का सात प्रतिशत हिस्सा फीसों से जुटाना होगा और साथ ही प्रतिवर्ष एक प्रतिशत की वृद्धिदर से इसे पन्द्रह प्रतिशत तक पहुंचाना होगा। यानी दिल्ली विश्वविद्यालय का सालाना मेंटेनेंस बजट 100 करोड़ रुपये है तो इस फार्मूले के मुताबिक उसे 7 करोड़ रुपया अपने आंतरिक स्रोतों से जुटाना पड़ेगा। यह बोझ सीधे विद्यार्थियों पर पड़ेगा क्योंकि विश्वविद्यालयों के पास ‘आंतरिक स्रोत’ के रूप में उनके अलावा और कोई ऐसा स्रोत नहीं है जो इस बोझ को उठा सके। बी.एच.यू. को सालाना 120 करोड़ रुपये का बजट मिलता है। अगर उसे इसका 7 प्रतिशत तत्काल अपने आंतरिक स्रोतों से जुटाना पड़े तो

यह रकम 8.4 करोड़ रुपये होगी और उसके कुल 13 हजार विद्यार्थियों पर यह रकम प्रति विद्यार्थी लगभग 6400 रुपये पड़ेगी। यह रकम क्रमशः बढ़ते-बढ़ते 13 हजार रुपये तक पहुंच जायेगी

क्योंकि बी.एच.यू. के सामने आने वाले वर्षों में अपने कुल बजट का 15 प्रतिशत यानी 18 करोड़ रुपये जुटाने का लक्ष्य है।

इन कमेटियों के अन्य सुझाव भी बड़े अनर्थकारी हैं। मसलन, रहमान कमेटी के अनुसार एक छात्र पर होने वाले पूरे शैक्षणिक व्यय को शिक्षण शुल्क के रूप में छात्रों से वसूल किया जाना चाहिए। इसके लिए शिक्षण शुल्क को तुरंत तीन गुना बढ़ाया जाना चाहिए। 1992 की पुनर्जीवी कमेटी के अनुसार मानविकी के एक छात्र पर होने वाला वार्षिक व्यय 22000 रुपये और विज्ञान के एक छात्र पर होने वाला व्यय 32000 रुपये है। रहमान कमेटी के अनुसार यह खर्च छात्र को ही उठाना चाहिए। इसके अतिरिक्त परीक्षा शुल्क को कम-से-कम दो से तीन गुना और पंजीकरण शुल्क को पांच से दस गुने तक बढ़ाया जाना चाहिए, छात्रावास शुल्क को 385 रु. से 1000 रुपये मासिक कर देना चाहिए। इसके साथ ही मेस पर दी जा

शिक्षा है सबका अधिकार बंद करो इसका व्यापार

मेहनती होगा वह खुद ही कैम्पस में पहुंच जायेगा। या यह कहना कि अच्छा ही है कि फीसें बढ़ें और गरीब नौजवान छंट जाये, आखिर बेवजह प्रतियोगिता खत्म होगी, यही छात्र कैम्पस में राजनीति करते हैं और अशान्ति फैलाते हैं। लेकिन जब इन उच्च मध्यवर्गीय लोगों की खुद की आमदनी में जरा भी कटौती होती है तो ये कांय-कांय चिल्लताते हैं। तब दिमाग में नहीं आता कि सरकार पैसा कहां से लायेगी।

सरकार के घातक छात्र-विरोधी षड्यंत्रों को अमली जामा पहनाते हुए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यू.जी.सी.) ने पिछले साल केन्द्रीय विश्वविद्यालयों के शैक्षणिक ढांचे की समीक्षा के लिए अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति महमूरुहमान (जो अपने छात्र-शिक्षक विरोधी कानामों के लिए काफी कुख्याति अर्जित कर चुके हैं) की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया। इसके अलावा दिल्ली विश्वविद्यालय से सम्बद्ध कालेजों के

रही सम्बिंदी को धीरे-धीरे वापस ले लिया जाना चाहिए। यह लिस्ट काफी लम्बी है, जिसमें शिक्षणोंतर गतिविधियों, पुस्तकालय और प्रयोगशाला पर हो रहे पूरे व्यय को छात्रों द्वारा उठाये जाने का सुझाव भी शामिल है। रहमान कमेटी के अनुसार उपरोक्त वृद्धियां न्यूनतम हैं और विश्वविद्यालय और कालेज इससे ज्यादा भी वसूल सकते हैं। कमेटी आगे कहती है कि इस न्यूनतम वृद्धि को सभी विश्वविद्यालयों और कालेजों के लिए कानूनन अनिवार्य कर दिया जाना चाहिए। सरकार इन अनर्थकारी छात्र-विवरोधी नीतियों पर अमल करने के लिए कितनी प्रतिबद्ध है और कितनी जल्दी में है इसे पिछले दशक में हुई फीस वृद्धियों से समझा जा सकता है। इस दशक के मध्य में प्राथमिक शिक्षा में 20 से 40 गुने तक की फीस वृद्धि हुई, 1997 में मेडिकल और इंजीनियरिंग के शुल्कों में 10 से 80 गुने तक की भारी बढ़ोत्तरी हुई, माध्यमिक शिक्षा, विभिन्न विश्वविद्यालयों, बी.एच.एम.एस., बी.ए.एम.एस. के शुल्कों में भी इसी तरह वृद्धि की जा चुकी है। छात्रों, अधिभावकों और शिक्षकों के व्यापक विवरोध को केंद्र और प्रदेश सरकारों ने बेरहमी से कुचला है।

अब आते हैं इन अनर्थकारी, छात्र-विवरोधी कदमों के पीछे दिये जाने वाले घटिया, कमज़ोर और हास्यास्पद सरकारी तर्कों पर। नई आर्थिक नीतियों के लागू होने के समय से ही एक तर्क दिया जाता रहा है कि उच्च शिक्षा पर किया जाने वाला खर्च व्यर्थ और अनुत्पादक है, इसलिए इस खर्च को खत्म किया जाना चाहिए। भई वाह! जबाब नहीं! क्या तर्क दिया है! उच्च शिक्षा पर खर्च अनुत्पादक है, और संसद विधानसभाओं में निर्थक बहसों, विवरोध की नौटंकी व हांगमे पर प्रति मिनट लाखों रुपये की दर से खर्च होने वाले अरबों रुपये उत्पादक व्यय है? मत्रियों के सैर-सपाटे और चाय-नाश्ते में उड़ जाने वाले सैकड़ों करोड़ क्या उत्पादक व्यय है? हत्यारों-बलात्कारियों- तस्करों-डकैतों को सरकारी सुरक्षा देने में खर्च होने वाले अरबों रुपये क्या उत्पादक व्यय है? क्या यह जनता के साथ बाजार-पुजारी भाजपा सरकार का भद्रा मजाक नहीं है?

दूसरा तर्क भी उतना ही बेहूदा है जितना कि पहला तर्क। इसके अनुसार शिक्षा के बजट को उच्च शिक्षा पर व्यय के बजाय प्राथमिक शिक्षा पर लगाना चाहिए क्योंकि यह “सामाजिक मानवीय और आर्थिक कारणों” से ज्यादा जरूरी है। पुनर्नया समिति ने भी कुछ ऐसी ही दलीलें दी थीं। इस कमेटी ने कहा था कि जो समाज गरीबी और गैरबराबरी से जूझ रहा हो उसमें

विश्वविद्यालयों पर खर्च फिजूलखर्च है और सम्पन्न तबकों को उच्च शिक्षा के खर्च से बचने नहीं दिया जा सकता। पहली बात तो यह कि प्राथमिक शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए उच्च शिक्षा पर दी जाने वाली सम्बिंदियों को खत्म किया जाना जरूरी नहीं है। यह जिम्मेदारी सरकार की है कि वह उच्च शिक्षा और प्राथमिक शिक्षा दोनों को ही आप जनता की पहुंच के भीतर रखे। शिक्षा देने के लिए ऐसी कोई शर्त नहीं हो सकती कि या तो प्राथमिक शिक्षा उपलब्ध करायें या उच्च शिक्षा। दूसरी बात, एक बार मान भी लें कि उच्च शिक्षा में से खर्चों की कटौती प्राथमिक शिक्षा पर लगाने के लिए की जा रही है तो प्राथमिक शिक्षा भी कहां सस्ती हो रही है, वह भी लगातार महंगी होती जा रही है। सच्चाई तो यह है कि उच्च शिक्षा के खर्चों में कटौती प्राथमिक शिक्षा में निवेश बढ़ाने के लिए नहीं बल्कि वित्तीय घाटे को काबू में रखने के लिए की जा रही है। और वित्तीय घाटा शिक्षा के कारण नहीं बल्कि मन्त्रियों-अफसरों की ऐयाशी, भ्रष्टाचार और भयंकर फिजूलखर्चियों के कारण बढ़ता जा रहा है। और सबसे बड़ी बात यह है कि प्राथमिक से लेकर उच्च शिक्षा तक पर कुल खर्च ही सरकारी बजट का सिर्फ साढ़े तीन प्रतिशत है। इसी के अंदर सारी कठर-व्यंत करनी है।

तीसरा तर्क भी उतना ही बेशर्म है जितना कि पहला और दूसरा। इस तर्क में समाजवादी जुमलों की छाँक है। यह तर्क कहता है कि उच्च शिक्षा तक समाज के सम्पन्न तबकों की ही पहुंच है, अतः इसकी शुल्क वृद्धि से समानता बढ़ोगी, न कि गैर-बराबरी। विश्वविद्यालयों-कालेजों में पहुंचने वाले छात्र जितने रुपये कैटीन में और मौज मस्ती में उड़ा देते हैं, उससे भी कम वे महीने की फीस में चुकाते हैं। दूसरी ओर लाखों गरीबों को प्राथमिक शिक्षा भी नसीब नहीं है। इसी से मिलते-जुलते कई तर्क आजकल सरकार, यू.जी.सी. और अपनी आत्मा गिरवी रख चुके शिक्षाविदों द्वारा दिये जा रहे हैं। इस तर्क के सभी आधार खोखले हैं। पहली बात कि उच्च शिक्षा और प्राथमिक शिक्षा दोनों साथ-साथ महंगे हो रहे हैं, इसलिए यह उम्मीद करना बेकार है कि उच्च शिक्षा की सम्बिंदी में कटौती से प्राथमिक शिक्षा सस्ती हो जायेगी। जब प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा को और महंगा बनाया जायेगा तो यह दलील देंगे कि आज देश में इतने लोग भूख से मर रहे हैं इसलिए शिक्षा से ज्यादा जरूरी है अनाज। और जब अनाज महंगा करेंगे तो भगवान जाने कौन

से तर्क देंगे।

रही बात इस दलील कि उच्च शिक्षा तक तो समाज का उच्च वर्ग ही पहुंच पाता है, तो इसके लिए कौन जिम्मेदार है? और इस हालत को सुधारकर उच्च शिक्षा को आप आदमी के लिए भी सुलभ बनाने के बजाय उसे पूरी तरह अमीरों के लिए ही सुरक्षित कर देने का बंदोबस्त किया जा रहा है। क्या खूब समतावादी कदम है। असलियत यह है कि तमाम कठिनाइयों के बावजूद समाज के आप मध्य वर्ग और थोड़े-बहुत मेहनतकश वर्गों से जो छात्र-छात्राएं विश्वविद्यालयों-कालेजों में पहुंच जा रहे थे वह भी सरकार और शिक्षानीति-निर्माताओं को बर्दाशत नहीं हो रहा है। क्योंकि यही छात्र-छात्राएं कैम्पसों में अपने अधिकारों के लिए आवाज उठाते हैं और कैम्पस से बाहर आकर रोजगार के लिए लड़ते हैं। सरकारी दमन और तमाम जनविवरोधी कदमों के खिलाफ ये ही आन्दोलनों में उत्तरते हैं और इन्हीं में से क्रान्ति के सिपाही पैदा होते हैं। इन्हीं को कैम्पसों में घुसने से रोकने के लिए दुरुह प्रवेश परीक्षाओं और महंगी फीसों की कंटीली बाड़ लगाई जा रही है।

इसे समझने के लिए यह देखना काफी है कि कितने छात्र बढ़ी हुई फीसों का बोझ उठा सकेंगे। भारतीय विश्वविद्यालय संघ द्वारा दी गई अध्ययन रिपोर्ट के अनुसार 30 प्रतिशत से भी कम छात्र बढ़ी हुई फीसों दे सकते हैं। ये वही 30 प्रतिशत हैं जो सालभर की फीस से ज्यादा पैसे हर महीने कालेज की कैटीन और मोटरसाइकिल-कार के पेट्रोल पर फूँक डालते हैं। यही इस व्यवस्था के लालडे बेटे-बेटियां हैं। इन्हीं की फिजूलखर्चियों का उदाहरण देकर सरकार उच्च शिक्षा को इन्हीं के लिए रिजर्व कर देना चाहती है।

यह कहानी यहीं खत्म नहीं हो जाती है। अगर एक बार यह मान भी लिया जाये कि सारे छात्र बढ़ी फीसें भर देंगे तो भी विश्वविद्यालयों का संकट खत्म नहीं होगा। सरकार यह आश्वासन देने को तैयार नहीं कि 15 प्रतिशत बजट की कटौती के बाद बाकी 85 प्रतिशत सरकार उपलब्ध कराती रहेगी। सरकार इस बात को किनारे कर रही है कि उच्च शिक्षा पर खर्च हर हालत में सरकार की प्राथमिक जिम्मेदारी है।

विश्वविद्यालयों-कालेजों को शुद्ध रूप से पैसा बटोरने की दुकानें में तब्दील कर देने के लिए यूजीसी ने और भी तमाम नायाब तरीके सुझाये हैं। इनमें से एक यह है कि विश्वविद्यालय अपनी संरचनागत सुविधाओं—क्लासरूम, खेल

के मैदान, अतिथि गृह, कम्प्यूटर सेवायें, छात्रावास आदि को भाड़े पर उठायें। कई कालेजों ने तो अपनी इमारतों को शादी-ब्याह के लिए देना शुरू ही कर दिया है, अब वह दिन भी दूर नहीं लगता जब क्लास करने पहुंचे छात्रों को पता चले कि लेक्चर हाल तो किसी कम्पनी के 'प्रेजेंटेशन' के लिए भाड़े पर उठा हुआ है। वैसे शुरूआत हो चुकी है। आई.आई.टी. दिल्ली ने अपने कैम्पस में ही दैत्याकाए कम्प्यूटर कम्पनी आई बी एम को अपनी प्रयोगशाला स्थापित करने के लिए विशाल बिल्डिंग लीज पर दे दी है। आई.आई.टी. की फैकल्टियों में 'इंटेल' और 'माइक्रोसफ्ट' जैसी कम्पनियों के लैब खुल चुके हैं।

दरअसल इन सारी आम छात्र-विरोधी हरकतों के पीछे बाजार-भक्त भाजपा सरकार का एक और छिपा उद्देश्य है। वह है गरीब छात्रों को विश्वविद्यालय तक पहुंचने ही न देना। इसका कारण यह है कि अमीरजादों के लिए तो बेरोजगारी कोई समस्या नहीं है, वे डिग्री के बलबूते रोजगार नहीं पायेंगे तो पैसों से पा जायेंगे या फिर पूँजी के दम पर कोई व्यवसाय कर लेंगे। लेकिन एक गरीब और निम्न मध्यवर्गीय नौजवान यह सब कुछ नहीं कर सकता। ऐसे नौजवान जब डिग्रियां लिये बेरोजगार घूमेंगे, इधर-उधर चप्पतें फटकायेंगे तो उनके मन में एक असंतोष, गुस्सा और व्यवस्था के विरुद्ध रोष तो पनपेगा ही। जब वे समझ जायेंगे कि मौजूदा व्यवस्था में एक गरीब छात्र के लिए इन डिग्रियों का कोई महत्व नहीं, तो विद्रोह की भावना तो पैदा होगी ही। ऐसे नौजवानों की विद्रोह-भावना, गुस्सा और असंतोष इस व्यवस्था की कब्ज खोद सकते हैं। इसीलिए इस बाजार व्यवस्था के कर्ता-धर्ता लोगों के लिए यही भला होगा कि ऐसे नौजवान परिसर तक पहुंच ही न पायें। नतीजतन ऐसी नीतियां लागू की जाएंगी हैं और आगे भी लगातार लागू की जाती रहेंगी।

अपने इन मंसूबों को पूरा करने के लिए इस सरकार में जर्बर्दस्त हड्डबड़ी है। सारे काम बेहद तेजी से किये जा रहे हैं। दिल्ली विश्वविद्यालय के कालेजों में फीस वृद्धि इसी सत्र से लागू कर दी गयी है। कई कालेजों में तो 100 से 140 फीसदी तक बढ़ोत्तरी हुई है, मसलन रामजस कालेज में।

छात्र-युवा अब और कितना इंतजार करेंगे? अब भी अगर हम नहीं जाएंगे और सस्ती व सर्वसुलभ शिक्षा के अपने अधिकार के लिए नहीं लड़ेंगे तो फिर कब जाएंगे! ●

उत्तर प्रदेश सरकार की उच्च शिक्षा सुधार योजना-2000

फीस बढ़ाओ सीटें घटाओ! छात्रों को काठ का उल्लू बनाओ!! चूं-चपड़ करने पर डण्डे चलाओ!!!

सुनील चौधरी

उत्तर प्रदेश में उच्च शिक्षा की खराब गुणवत्ता से चिन्तित सरकार आजकल 'उच्च शिक्षा सुधार योजना-2000' पर मुस्तैदी से अमल कर रही है। इसके तहत विश्वविद्यालयों-कालेजों में भारी शुल्क वृद्धि, 75 प्रतिशत उपस्थिति अनिवार्य करना, सीटों में व्यापक कटौती, समान पाठ्यक्रम लागू करना, छात्रसंघ के ढांचे में फेरबदल और परीक्षा-प्रणाली में सुधार लागू करने की नीति पर वह चल रही है। लेकिन, सरकार के मंत्रियों, सरकारी बुद्धिजीवियों, शिक्षा नौकरशाहों, शासन की वफादारी में डटे हुए कुलपतियों और दिग्भ्रमित बुद्धिजीवियों को छोड़कर शायद ही कोई संजीदा व्यक्ति सोचता हो कि इन उपायों से उच्च शिक्षा की गुणवत्ता पर कोई फर्क पड़ने वाला है। तो आखिर शासन की असली मंशा क्या है?

वैसे, आज आम आदमी बिल्कुल अच्छी तरह यह जान चुका है कि शासन की असली मंशा अधोषित होती है जो नतीजों से जाहिर होती है। और अब नतीजे जाहिर कर चुके हैं कि शिक्षा में "सुधार" के पीछे सरकार का पहला मकसद है कैम्पसों से मेहनतकशों के बेटे-बेटियों को खदेना और डण्डा राज कायम कर छात्रों की सत्ताविरोधी आवाजों का गला घोटना। समग्रता में अर्थव्यवस्था की तर्ज पर शिक्षा का भी बाजारीकरण करना व भूमण्डलीकरण के दौर में शासक वर्ग की नयी जरूरतों के मद्देनजर शिक्षा तंत्र को ढालना।

फीसों में बढ़ोत्तरी-सीटों में कटौती : मुसीबत टालने का हथकण्डा

सामान्य बुद्धि का कोई भी व्यक्ति यह समझ सकता है कि आखिर शुल्क वृद्धि और सीटों में कटौती से उच्च शिक्षा की गुणवत्ता का क्या सम्बन्ध? इसके पीछे शासन की मंशा सिर्फ यह है कि उच्च शिक्षा संस्थानों में सिर्फ उतने ही छात्र दाखिला लें और डिग्री हासिल

करें जितने कल-पुजों की मौजूदा पूँजीवादी तंत्र को ज़रूरत है। "रोजगार विहीन विकास" के मौजूदा दौर में यदि भारी संख्या में उच्च शिक्षा की डिप्रियां हासिल किये नौजवान बेरोजगारी में भटकते रहेंगे तो शासन के लिए मुसीबत पैदा करेंगे। इस बला को टालने के लिए ही शुल्क वृद्धि, सीटों में कटौती और प्रवेश परीक्षाओं की बाड़ खड़ी की गयी है।

शुल्क वृद्धि के पक्ष में दिये जा रहे सभी तर्क सिर्फ फेरबदल हैं। प्रदेश सरकार संसाधनों का रोना रो रही है। उसका कहना है कि विश्वविद्यालयों-कालेजों को स्वायत्त बनाने की नीति के तहत विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यू.जी.सी.) ने अनुदानों में भारी कटौती कर दी है। इसलिए सिर्फ अपने संसाधनों के बूते प्रदेश सरकार उच्च शिक्षा का बोझ बहन करने में असमर्थ है। विश्वविद्यालयों-कालेजों को इस परिस्थिति में अपने संसाधन खुद जुटाने ही होंगे।

यू.जी.सी. किन मजबूरियों में स्वायत्तता का नारा उछाल रही है, इसे फिलहाल छोड़कर प्रदेश सरकार की मजबूरी पर आयें। सच्चाई यह है कि प्रदेश की खस्ताहाल अर्थव्यवस्था में मंत्रियों के जो ठाठ हैं उसकी तुलना सिर्फ अरब देशों के शेखों से की जा सकती है। सत्तारूढ़ होने के बाद से प्रदेश के जम्बो मंत्रिमंडल के मंत्री हर साल करोड़ों रुपये चाय-नाश्ते में उड़ा देते हैं। सरकारी यात्राओं-समारोहों और उनकी सुक्षा पर हर साल करोड़ों रुपये खर्च होते हैं। पिछले दो वर्षों में ही इन मदों में 42 करोड़ रुपये खर्च हो चुके हैं। मंत्रियों-विधायकों के वेतन-भत्ते और अन्य सुविधाएं लगातार बढ़ती जा रही हैं लेकिन शिक्षा पर व्यय का बोझ सरकार नहीं उठा पा रही है। कैसी दिलचस्प मजबूरी है यह!

बात साफ है कि चाहे यू.जी.सी. हो या प्रदेश सरकार—उच्च शिक्षा के राजकीय दायित्वों से पूरी तरह मुंह मोड़कर शिक्षा को पूँजी निवेश का क्षेत्र और शिक्षा को महंगा

बिकाऊ माल बना देना चाहती है। उच्च शिक्षा को बाजार तंत्र के हवाले कर देना चाहती है। जाहिर है बाजार में माल वही खरीद सकता है जो उसकी कीमत अदा कर सके।

यदि सरकार का मकसद वाकई गुणवत्ता बढ़ाने का होता तो सबसे पहले सरकार शिक्षा की सुविधाओं में बढ़ोत्तरी करती और हजारों की संख्या में खाली पड़े शिक्षकों के पदों पर नियुक्तियां कर छात्र-शिक्षक अनुपात को अपने घोषित मानदण्डों के अनुसार पूरा करती, न कि सीटें घटाती और फीसें बढ़ाती।

75 प्रतिशत उपस्थिति की अनिवार्यता : छात्रों को सामाजिक सरोकारों से काटने की चाल

उच्च शिक्षा की गुणवत्ता सुधारने के नाम पर सरकार ने एक और कदम उठाया है—कक्षाओं में 75 प्रतिशत उपस्थिति की अनिवार्यता। जिन छात्रों की उपस्थिति इससे कम होगी वे परीक्षा से वंचित कर दिये जायेंगे। डण्डे के जोर से कक्षाओं में छात्रों को बैठकर पढ़ाने से उच्च शिक्षा का स्तर कैसे ऊपर उठेगा यह शासनभक्त शिक्षाविद् ही बता सकते हैं। बहरहाल उनका तर्क है कि उपस्थिति की बाध्यता से छात्र बेवजह परिसरों में नहीं घूमेंगे। इससे परिसरों में अनुशासन बहाल होगा और छात्र-अराजकता पर अंकुश लगेगा।

सरकारी शिक्षाविद शिक्षा के प्रति आम छात्रों की बढ़ती अरुचि के कारणों की तह में नहीं जाना चाहते। शिक्षा को जब डिग्री हासिल करने का पर्यायवाची बना दिया जायेगा, जब जीवन के ठोस सवालों से अलग करके उसे नीरस-उबाऊ किताबी ज्ञान अर्जित करने तक सीमित कर जायेगा और हर प्रकार की मानवीय सर्जनात्मक, सहज मानवीय जिज्ञासाओं को कुण्ठित करने का गैर जनवादी शैक्षिक वातावरण होगा तो छात्रों के अन्दर कक्षाओं में बैठने का चाव नहीं पैदा हो सकता। जब युवा वर्ग की ऊर्जा और सर्जनात्मकता के प्रस्फुटित होने की जगह नहीं मिलेंगी तो वे अपनी जगह खुद तलाशने की कोशिश करेंगे। ऐसे में, बाह्य सामाजिक परिवेश में मौजूद सांस्कृतिक प्रतॄपणों का शिकार हो वे अराजक गतिविधियों की ओर भी उन्मुख होंगे। छात्रों के अन्दर कक्षाओं में बैठने के प्रति अरुचि के ये प्रमुख कारण हैं। परन्तु सरकार और उसके शिक्षाविदों ने पाठ्यक्रमों को अधिक सृजनात्मक बनाने, अध्ययन-अध्यापन के वातावरण को अधिक जनवादी बनाने के बजाय 'डण्डा मारो कक्षा में बैठो' कार्यपूला लागू करने का फैसला लिया है।

साफ जाहिर है कि सरकारी इरादे कुछ और हैं। सरकार की चिन्ता यह नहीं है कि कक्षाओं से भागकर छात्र अराजकता फैलाते हैं। वह आम छात्रों को किताबों, कक्षाओं और परीक्षाओं में इसलिए उलझाये रखना चाहती है कि जिससे वे शासन की जनविरोधी नीतियों के खिलाफ गोलबन्द और संगठित होकर किसी तरह की चुनौती न पैदा कर सकें जो परिसरों में अराजकता और गुणांशील फैला रहे हैं, उन्हें इन नियमों को ठेंगा दिखाने में कोई दिक्कत नहीं होगी। और वैसे भी, यह बात कोई भी समझ सकता है कि संसद-विधानसभाओं में बैठे अराजक तत्वों एवं समाज विरोधी तत्वों को परिसरों में पल रही अपनी नयी फसल से भला क्यों कर चिन्ता होगी?

सीमित अकादमिक स्वायत्तता एवं वैचारिक आजादी पर हमला : समान पाठ्यक्रम एवं परीक्षा प्रणाली में परिवर्तन

सरकार मौजूदा सत्र से प्रदेश के सभी विश्वविद्यालयों में बी.ए. स्तर पर एक समान पाठ्यक्रम लागू करना चाहती थी, किन्तु पर्याप्त तैयारियों के अभाव में फिलहाल इस सत्र से यह लागू नहीं हो पा रहा है। लेकिन सरकार इसे लागू करने के लिए कटिबद्ध है।

इस निर्णय को लागू कर प्रदेश सरकार ने विश्वविद्यालयों की सीमित अकादमिक स्वायत्तता और वैचारिक आजादी को भी हड्डप लेने की चाल चली है। अब तक विश्वविद्यालयों को यह स्वतंत्रता थी कि वे विभिन्न विषयों के पाठ्यक्रम खुद तैयार करायें। इसमें इस बात की गुंजाइश रहती थी कि विभिन्न विषयों में, विशेषकर कला एवं सामाजिक विज्ञानों से सम्बन्धित विषयों में प्रगतिशील सोच के शिक्षक अपेक्षाकृत अधिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रगतिशील धारा के साहित्यकारों-रचनाकारों-चिन्तकों की रचनाओं के अध्ययन को पाठ्यक्रम में शामिल करा लेते थे। लेकिन, सरकार के इस निर्णय के लागू होने के बाद ये सम्भावनाएं पूरी तरह खत्म हो जायेंगी और पहले से अधिक धौर प्रतिक्रियावादी, पुरातनपंथी, सत्ताधर्मी पाठ्यक्रम छात्रों पर थोप दिये जायेंगे। सरकार की साफ मंशा है कि छात्र किसी भी प्रकार के "खतरनाक" विचारों के सम्पर्क में न आयें और सत्ताधर्मी बनकर चुपचाप सरकारी पाठ्यक्रमों का घोंटा लगायें।

यह अकादमिक संस्थानों का संघीकरण करने की भाजपाई रणनीति का ही अंग है जिसके

तहत उसने पिछले दिनों आई.सी.एच. आर, एन.सी.ई.आर.टी. आदि संस्थानों पर हमला बोलकर उन्हें पूरी तरह भगवा रंग में रंगने की कोशिश की है।

परीक्षा प्रणाली में परिवर्तन के पीछे भी सरकार का असली मकसद यही है कि छात्र सिर्फ कक्षाओं और परीक्षाओं की भूलभूलैया में भटकते रहें। पांच प्रश्नों को टक्कर उन्हें उत्तर पुस्तिकाओं पर लिख देने की पद्धति के बजाय अब प्रश्न पत्र इस तरह तैयार कराये जायेंगे जिसका उत्तर देने के लिए छात्रों को पूरे पाठ्यक्रम का घोंटा लगाना पड़ेगा। (लगेगा अब भी घोंटा ही) इससे शिक्षा की गुणवत्ता पर तो कोई खास फर्क नहीं पड़ेगा, हाँ इतना जरूर होगा कि कक्षाओं में 75 प्रतिशत उपस्थिति और भारी-भरकम पाठ्यक्रम को टक्कर के मानसिक तनाव में छात्र आत्मकेन्द्रित होकर सामाजिक सरोकारों से पूरी तरह कट जायेंगे। इससे उनके दिमागों में सत्ता का आतंक घर करेगा। आम छात्र कायर एवं दबू बनेंगे तथा सत्ता की अध्यर्थना की मानसिकता पनपेंगी। यह मनःस्थिति फासिस्ट निरंकुशशाही के लिए उपजाऊ जमीन होती है और सरकार ठीक यही चाहती है।

छात्रसंघ के ढांचे में तोड़फोड़

छात्रों के जनतांत्रिक अधिकारों को हड्डपने की साजिश : परिसरों की अराजकता दूर करने के नाम पर परिसरों की अराजनीतिकरण एवं छात्रों के जनतांत्रिक अधिकारों को ही हड्डप लेना—छात्र-युवा आन्दोलनों से निपटने का शासक वर्गों का पुराना हथकण्डा है यह। कोठारी आयोग ने यह सिफारिश 1964 में ही की थी, लेकिन उस समय छात्र-युवा आन्दोलनों की मजबूती के चलते इन पर अमल न हो सका था। फिर 1986 में राजीव गांधी के प्रधानमंत्रित्व काल में नयी शिक्षा नीति के तहत इसे फिर से लागू करने की शुरूआत हुई। इस समय तक पूंजीवादी पार्टीयों से जुड़ी छात्र राजनीति आम छात्रों से पूरी तरह कटकर अप्रासारित हो चुकी थी और क्रान्तिकारी छात्र आन्दोलन भी देश स्तर पर अपने गतिरोध से उबर नहीं सका था। यह स्थिति कमोबेश आज भी बनी हुई है। इसी नीति के तहत उत्तर प्रदेश सरकार ने पिछले सत्र से ही छात्र संघ के ढांचे में तोड़फोड़कर उसे पांग बनाने का और प्रशासन की जेबी संस्था

बनाने की शुरुआत की है और पूरे प्रदेश में छात्र संघों के लिए नया संविधान और चुनाव की नयी आचार संहिता लागू की है। देश के कई विश्वविद्यालयों में इस तरह के संविधान को पहले ही लागू किया जा चुका है।

छात्र संघ के नये संविधान और नयी आचारसंहिता के बारे में 'आहान' के जनवरी-मार्च 2000 अंक में (गोरखपुर विश्वविद्यालय के हवाले से) एक विस्तृत लेख दिया जा चुका है। निचोड़ यही है कि छात्रों के जनतांत्रिक अधिकारों को पूरी तरह हड्डप लिया जाये। छात्र संघ को ही भंग कर दिया जाये।

निचोड़ के तौर पर, उत्तर प्रदेश में उच्च शिक्षा में सुधार के नाम पर जो भी कदम उठाये जा रहे हैं वे थोर छात्र विरोधी हैं। शिक्षा की गुणवत्ता बढ़ाने से उनका कुछ भी लेना-देना नहीं है। सरकार इस बात को बखूबी समझ रही है कि निजीकरण-उदारीकरण के दौर में जिन जनविरोधी-छात्र विरोधी नीतियों पर वह अमल कर रही है उससे छात्र-युवा असंतोष बढ़ता ही जा रहा है, जिसे एक न एक दिन फूटना है। इस असंतोष को दबाने और शिक्षा व्यवस्था को देशी-विदेशी यूंजीपतियों की नयी जरूरतों के अनुसार ढालने की कोशिश के तहत ही ये सारे कदम उठाये जा रहे हैं। इसी कोशिश के तहत ही विश्वविद्यालय परिसरों को पुलिस-पी.ए.सी. की छावनी में तब्दील कर दिया गया है।

स्पष्ट है कि शासक वर्ग ने अपनी तैयारियों में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी है। छात्र-युवा आखिर कब चेतेंगे और मुकाबले के लिये तैयार होंगे।

जो बोलते हो उसे सुनो भी

अध्यापक,

अक्सर मत कहो कि तुम सही हो छात्रों को उसे महसूस कर लेने दो खुद-ब-खुद

सच को थोपो मत :

यह ठीक नहीं है सच के हक में बोलते हो तो उसे सुनो भी ।

○ बेटेल्ट ब्रेट

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में नयी आचारसंहिता लागू

जे.एन.यू. परिसर का जनतंत्र अब प्रशासकों की आंखों में चुभने लगा

ललित सती

देश के अपेक्षाकृत सबसे खुले और जनतांत्रिक माहौल वाले जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय (जे.एन.यू.) के नये सत्र की शुरुआत उसपर एक नयी दमनकारी आचार-संहिता थोपने के साथ हुई है।

आज जब देशभर में शिक्षा परिसरों में डण्डाराज कायम किया जा रहा है तो जे.एन.यू. का जनतंत्र भला प्रशासकों की आंखों में क्यों न छाटकता! हमेशा की तरह इस आचारसंहिता के पीछे भी परिसर को अराजकता से मुक्त करने, "कानून-व्यवस्था" बहाल करने और छात्रों के कल्याण के ही तर्क दिये गये हैं। लेकिन इसके मोटे-मोटे प्रावधानों पर नजर ढालने से ही साफ हो जाता है कि कल्याण किसका होना है और इसका असली मकसद क्या है।

इस आचार-संहिता में दुराचरण और अनुशासनहीनता की दो कोटियां निर्धारित की गयी हैं और उनकी सख्त सजाएं मुकर्र की गई हैं। पहली कोटि में हिंसात्मक गतिविधियों या यौन शोषण के अतिरिक्त "धेराव करना विश्वविद्यालय परिसर के किसी सदस्य के आवास की धेराबंदी करना या उसके सामने प्रदर्शन करना, या किसी भी प्रकार से दबाव डालना, डराना या कैम्पस के निवासी के एकान्तता के अधिकार को भंग करना" भी शामिल है। इस तरह के दुराचरण और अनुशासनहीनता के दण्ड के रूप में दाखिले को रद्द किया जा सकता है या डिग्रियां वापस ली जा सकती हैं या विशेष अवधि के लिए रजिस्ट्रेशन रोका जा सकता है या चार सेमेस्टर के लिए निष्कासित किया जा सकता है।

यानी कि अपनी वाजिब मांगों को लेकर धेराव, धेराबंदी, या प्रदर्शन करना हिंसा और यौन-शोषण के समान ही अपराध होगा। इन गैर-जनतांत्रिक कदमों की लिस्ट यहीं खत्म नहीं होती। दूसरी कोटि में यह कहा गया है "भूख हड़ताल, धरना, गृप बार्गनिंग और

अकादमिक या प्रशासनिक भवनों के प्रवेश और निकास को बंद करके होने वाले किसी भी विरोध और अकादमिक समुदाय के किसी भी सदस्य की गतिविधियों में कोई भी विघ्न" सहन नहीं किया जायेगा। इस तरह की अनुशासनहीनता और दुराचरण के लिए 20,000 रुपये तक का जुर्माना, दोषी छात्र के लिए किसी भी या सभी अकादमिक प्रक्रियाओं पर रोक और दो सेमेस्टर तक निष्कासित करने जैसी सजाएं निर्धारित की गई हैं। इसके अलावा छात्रावास के किसी कमरे में बाहरी व्यक्ति के रुकने, सभाएं आदि करने के लिए भी कड़ी सजाएं तय की गई हैं।

प्रत्यक्षतः जे.एन.यू. परिसर को अन्य सभी परिसरों से भी अधिक गैर-जनतांत्रिक और निरंकुश बनाने की कोशिश शुरू हो चुकी है। उसी जे.एन.यू. परिसर को जो अपने जनतांत्रिक माहौल, खुलेपन, उदारता और प्रगतिशीलता के लिए जाना जाता था। दरअसल इस फासिस्ट कदम के पीछे वही कारण हैं जो देश भर के अनेक विश्वविद्यालयों में लागू हो रही नयी फासिस्ट आचार संहिताओं के पीछे हैं। नई आर्थिक नीतियों के लागू होने के बाद से शिक्षा बेतरह महंगी हुई है। छात्रों में असंतोष बढ़ रहा है। इस असंतोष से होने वाले भावी विस्फोट को कुचलने के लिए परिसरों के दमनतंत्र को नये हरब-हथियारों से लैस करना जरूरी था। लेकिन जे.एन.यू. में यह करना मुश्किल था क्योंकि इस विश्वविद्यालय की स्थिति अन्य विश्वविद्यालयों से भिन्न थी। जे.एन.यू. सामाजिक और राजनीतिक तौर पर सचेत छात्रों का केन्द्र था। बुर्जुआ समाज में सम्भव अकादमिक स्वतंत्रता, उदारता, खुलेपन की दृष्टि से जे.एन.यू. देशभर में एक मिसाल था। एकाएक यहां जनतंत्र का गला धोंट पाना कठिन था। लेकिन पिछले कुछ अरसे में जे.एन.यू. की प्रकृति में कुछ ऐसे बदलाव हुए हैं जिसके चलते उनका काम आसान हो गया। पिछले दिनों जे.एन.यू. परिसर में बलात्कार और छात्राओं को डराने की जो घटनाएं हुईं उसके बाद

प्रशासन को मौका मिला। उसने कहा कि बेहद खुलेपन की वजह से यह सब हुआ है और कुछ सख्त कानून बनाये जायेंगे। इस घटना के बाद निश्चित तौर पर प्रशासन को अपने खतरनाक मंसूबे पूरे करने के लिए एक आड़ मिल गयी।

लेकिन एक और कारण ज्यादा महत्वपूर्ण है। वह है जे.एन.यू. के छात्रों की आबादी के संघटन और साथ ही साथ छात्रों की मानसिकता में आया बदलाव। छात्रों में कैरियरवाद का प्रभाव बेहद तेजी से बढ़ा है। पहले यहाँ के छात्र शिक्षा क्षेत्र की बड़ी घटनाओं पर ही नहीं बल्कि सामाजिक-राजनीतिक मुद्दों पर भी काफी जागरूक होते थे और हर महत्वपूर्ण राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय घटना पर प्रतिक्रिया करते थे। लेकिन आज छात्रों में अपने आप को सामाजिक-राजनीतिक विसंगतियों से काटकर कैरियर बनाने में जुट जाने का रुझान बेहद मजबूत हुआ है। यह रुझान छात्रों के जु़ूझारूपन को कुंद बना रहा है और आम लोगों के संघर्ष से उन्हें काट रहा है। संसदीय वामपंथी पार्टियों से जुड़े छात्र संगठनों के क्रियाकलापों ने भी जे.एन.यू. परिसर के माहौल को गैर-राजनीतिक और 'पैसिस्व' बनाने में भूमिका निभाई है। इन्हीं कारणों से यहाँ उन फासीवादी हिन्दुत्व ताकतों का उदय हुआ जिनका पहले परिसर में नामेनिशान भी नहीं था।

इस तरह की और भी वस्तुगत और मनोगत परिस्थितियां तैयार हुई हैं जिससे इस तरह की आचार-सहिता लागू करने का साधास प्रशासन में पैदा हुआ। शिक्षा के क्षेत्र में भाजपा सरकार का बाजारवाद के नये प्रतिमान स्थापित करना परिसर में निरंकुशता और गैर-जनतांत्रिक माहौल कायम करने से सीधे-सीधे जुड़ा हुआ है। शिक्षा का बाजारीकरण लगातार बढ़ी हुई फीस का बोझ छात्रों के मर्थे मढ़ रहा है, गरीब छात्र शिक्षा से दूर किये जा रहे हैं और देश में लुटेरी आर्थिक नीतियां कहर बरपा कर रही हैं। ऐसे में छात्रों में असंतोष और गुस्से का पनपना स्वाभाविक है। लेकिन भारतीय प्रशासक नहीं चाहते कि किसी भी तरह जे.एन.यू. में यूनाम या तेहरान दोहराया जाये।

अगस्त को जे.एन.यू. छात्रसंघ के बैनर तले छात्रों ने संगठित होकर आचार-सहिता की प्रतियां जलायीं और कुलपति के खिलाफ नारे लगाये। छात्रों ने कहा कि अगर इन गैर-जनतांत्रिक नियमों को उन पर थोपने की कोशिश हुई तो वे आन्दोलन करेंगे।

लेकिन अगर जे.एन.यू. के छात्रों को इन साजिशों को शिक्षित देनी है तो उन्हें देश भर

शासन के खैरख्वाह एक कुलपति की कारस्तानियां

"उच्च शिक्षा की गुणवत्ता सुधारने" के नाम पर मौजूदा सत्र से सरकार उ.प्र. के कई विश्वविद्यालयों-महाविद्यालयों में भारी शुल्क वृद्धि (चार गुने-पांच गुने) के जिस प्रस्ताव को लागू करना चाहती थी, फिलहाल उसे वापस ले लिया गया है। विगत दिनों लखनऊ में सम्पन्न प्रदेश के कुलपतियों के सम्मेलन में इस प्रस्तावित शुल्क वृद्धि पर सरकार के प्रतिनिधियों ने चर्चा तक नहीं की। दरअसल, शुल्क वृद्धि की खबर सुनकर प्रदेश भर में छात्र-युवा आन्दोलनों की सुगंगाहटों से सरकार ने यह नतीजा निकाला कि आसन्न विधान सभा चुनावों के मद्देनजर शासक यार्ड (मुख्यतः भाजपा) की चुनावी सेहत के लिए यह अच्छा नहीं रहेगा। इसलिए, फिलहाल सरकार ने मौजूदा सत्र में शुल्क वृद्धि न लागू करने का फैसला किया। लेकिन, शासन के एक खैरख्वाह कुलपति सरकार की चुनावी मजबूरी से बेपरवाह होकर शासन के प्रस्तावों को अपने स्तर पर सीमित पैमाने पर लागू करने पर तुले हुए हैं। जी हाँ, यह गोरखपुर विश्वविद्यालय के कुलपति जनाब राधे मोहन मिश्र हैं।

कुलपति सम्मेलन से वापस लौटने के तत्काल बाद उन्होंने विश्वविद्यालय कार्य परिषद की एक आपात बैठक बुलायी और शासन की घोषित मंशा के विपरीत सभी कक्षाओं के वार्षिक शुल्क में दो सौ रुपये की वृद्धि करने का प्रस्ताव पारित करा लिया। हालांकि इस मसले पर कार्यपरिषद के भीतर मतैक्य नहीं था। कार्य परिषद के एक सदस्य भोलेन्द्र सिंह ने तो प्रेस बयान भी जारी किया कि वे शुल्क वृद्धि को उचित नहीं मानते। कुलपति ने कार्यपरिषद को शासन की मंशा के बारे में गलत सूचना देकर शुल्क

जे.एन.यू. ...

के छात्रों के संघर्षों से ऐक्यबद्ध होना होगा क्योंकि परिसर में जनतांत्र की हत्या पहली बार नहीं हो रही है। गोरखपुर विश्वविद्यालय में इसी वर्ष छात्र संघ को नाकरा बना देने के लिए एक निरंकुश आचारसंहिता लागू की जा चुकी है। कई और विश्वविद्यालयों में इसकी तैयारी है। वे अन्य विश्वविद्यालय के छात्रों के संघर्षों से कटकर नहीं रह सकते, उनसे जुड़कर ही राष्ट्रीय स्तर पर इन छात्र-विरोधी नीतियों और साजिशों से लड़ सकते हैं। ●

वृद्धि का प्रस्ताव पास करा लिया। उन्होंने कार्य परिषद की बैठक फिर से बुलाने की बात कही।

यह तो कुलपति महोदय की राजधकित और छात्र विरोधी रवैये की एक बानगी है। पदभार ग्रहण करने से लेकर आज तक उन्होंने घोर छात्र-विरोधी-कर्मचारी विरोधी फरमानों की झड़ी लगा दी है। विश्वविद्यालय निरंकुशशाही की प्रयोगशाला बन गया है। छात्रों-कर्मचारियों के जनतांत्रिक आन्दोलनों पर लाठी चलवाना उनकी कार्यशैली का अभिन्न अंग है। अभी पिछले दिनों कोर्स पूरा न होने के कारण परीक्षा टलवाने के लिए वार्ता करने गये छात्र प्रतिनिधियों को उन्होंने माफिया तक कह डाला। यह भी कहा कि वे विश्वविद्यालय में जनतांत्रिक विरोध और आन्दोलनों की संस्कृति को ही खत्म कर देना चाहते हैं। मौजूदा सत्र शुरू होते ही परिसर के मुख्य प्रवेश द्वार को दंगा नियंत्रक बाहन 'वज्र' सहित खाकी वर्दीधारियों ने अपने कब्जे में ले रखा है और कैम्पस में आतंक राज कायम करने की नयी-नयी कवायदें भी शुरू हो चुकी हैं।

मौजूदा सत्र में विश्वविद्यालय और सम्बद्ध महाविद्यालयों को मिलाकर सोलह हजार से भी अधिक सीटों की कटौती कर दी गयी है और साम्यकालीन कक्षाओं को भी खत्म कर दिया गया है। हालांकि सीटों में कटौती के सवाल पर महाविद्यालयों के प्राचार्यों ने कुलपति के आदेश का पालन करने से इंकार कर दिया है, लेकिन कुलपति महोदय अभी अपनी मर्जी पर डटे हुए हैं।

मौजूदा सत्र शुरू होते ही कुलपति ने यह फरमान जारी किया कि परिसर की दीवारों पर किसी तरह के पोस्टर न लगाये जायें। जो कोई भी छात्र, संगठन, या संस्था पोस्टर चिपकायेगा उसे संज्ञय अपराधी ठहराते हुए उचित सजा दी जायेगी। साथ ही, जिस कर्मचारी की ड्यूटी अवधि में पोस्टर चिपका पाया जायेगा उसके खिलाफ भी कार्रवाई की जायेगी।

ऐसे ही घोर निरंकुश फरमानों की झड़ी लगाकर कुलपति महोदय शासन की नजरों में चढ़े रहना चाहते हैं। छात्र-कर्मचारी-शिक्षक सभी कुलपति महोदय के फरमानों से त्रस्त हैं। गुस्सा किस रूप में फूटेगा, क्या अंजाम होगा, यह तो समय ही बतायेगा, लेकिन अतीत बताता है कि तानाशाहों का अंजाम अच्छा नहीं हुआ करता।

● आहान संवाददाता

■ कविताएं

छात्रों के प्रति

1.

तुम वहां बैठते हो
पढ़ने के लिए।
और कितना खून बहा था
कि तुम वहां बैठ सको।
क्या ऐसी कहानियां तुम्हें बोर करती हैं?
लेकिन मत भूलो कि पहले
दूसरे बैठते थे तुम्हारी जगह
जो बैठ जाते थे बाद में
जनता की छाती पर।
होश में आओ!

2.

तुम्हारा विज्ञान व्यर्थ होगा, तुम्हारे लिये
और अध्ययन बांझा, अगर पढ़ते रहे
बिना समर्पित किये, अपनी बुद्धि को
लड़ने के लिए
सारी मानवता के सारे शत्रुओं के विरुद्ध

3.

मत भूलो,
कि आहत हुए थे तुम जैसे आदमी
कि पढ़ सको तुम यहां, न कि दूसरे कोई
और अब मत मूँदो अपनी आंखें, और
मत छोड़ो पढ़ाई
बल्कि पढ़ने के लिए पढ़ो
और पढ़ने की कोशिश करो
कि क्यों पढ़ना है?

- बेटोल्ट ब्रेष्ट

सौचों!

सौचों!

यह विषय कठिन नहीं है
जो हमारी समझ में नहीं आ सकता
छोटे-छोटे चोरों को कड़ी सजाएं
और बड़े चोरों का ओहदा बड़ा
सार्वजनिक अभिनंदन
गले तक ढूबे हार में, अखबार में

हर दिन फोटू।

इसी फोटू पर अपने घर में
मारकर जूते शुरू करें।
दस रुपये, साइकिल
जूते, रोटी चुराने वाले
या मजदूर, ईमानदार हम सब
हमें शर्म आनी चाहिए
जो नंगे भूखों को बचा नहीं सकते
नागरिकों !
सफेदपोश डाकुओं
बड़े चोरों की तस्वीरों पर थूको
और बचाओ
अपराधों से गरीब मजबूरों को
कायदे जुल्म-सजाओं के
यदि नहीं बदलते
तो तुम

बदलो आदत अपनी
सौचों इस विषय पर
सचमुच

यह विषय कठिन नहीं है।

- चन्द्रकान्त देवताले

◇ वर्ष 1999 की मानव विकास रिपोर्ट के अनुसार विश्व के सबसे गरीब 20 प्रतिशत लोगों के पास विश्व की कुल आय का सिर्फ एक प्रतिशत पहुंच रहा है।

◇ विश्व के सबसे अमीर 20 प्रतिशत लोग विश्व की कुल आय के 86 प्रतिशत हिस्से का उपभोग कर रहे हैं।

◇ विश्व के सबसे अमीर तीन व्यक्तियों के पास जितनी सम्पत्ति है, वह गरीब देशों में रहने वाले विश्व के 60 करोड़ लोगों की वार्षिक आय के बराबर है।

◇ विश्व के लगभग 100 करोड़ लोग न्यूनतम बुनियादी आवश्यकताओं से वंचित हैं।

◇ 1960 में विश्व के सबसे गरीब 20 प्रतिशत लोगों की आय की वृद्धि दर 2.3 प्रतिशत थी, जबकि इस सदी के अन्त में यह मात्र 1 प्रतिशत रह गयी है।

◇ विश्व में प्रतिवर्ष लगभग 80 लाख

बच्चों की मौत गरीबी और अभाव के कारण होती है।

◇ विश्व के सभी बच्चों के लिए शिक्षा सुविधाओं की व्यवस्था करने के लिए वार्षिक खर्च 6 अरब डालर है, जो उपलब्ध नहीं हो रहा, जबकि अमीर देशों में प्रतिवर्ष केवल बीडियो गेम खरीदने पर 8 अरब डालर खर्च हो रहा है।

बोलते आंकड़े चीरखती सच्चाइयां

◇ दुनिया के सभी लोगों तक स्वास्थ्य, पोषण, स्वच्छता, सब बच्चों तक शिक्षा ले जाने का वार्षिक खर्च 27 अरब डालर है, जो उपलब्ध नहीं हो रहा है। वहीं दूसरी ओर केवल एक देश अमेरिका में एक वर्ष में 25 अरब

डालर बीयर पीने-पिलाने में खर्च हो रहा है और जापान में एक वर्ष में बड़े व्यवसायियों द्वारा दिये गये लंच-डिनर में 35 अरब डालर खर्च हो रहा है।

◇ देश में एक परमाणु बम बनाने के खर्च 4 करोड़ रुपये में ग्रामीण गरीबों के लिए इन्दिरा आवास योजना के तहत 3300 मकान बनाये जा सकते हैं।

◇ एक अग्नि मिसाइल के निर्माण का खर्च 60 करोड़ रुपये है जिससे 15000 ग्रामीण स्वास्थ्य केन्द्रों का सालाना खर्च चल सकता है।

◇ परमाणु हथियार से लैस एक पनडुब्बी पर होने वाले खर्च 4000 करोड़ रुपये में 1000 मेगावाट का बिजलीघर बन सकता है।

◇ एक परमाणु प्रहारत्रयी के निर्माण पर होने वाले कुल व्यय 4000 करोड़ रुपये के बराबर केन्द्र सरकार का ग्राथिक और माध्यमिक शिक्षा का कुल बजट है।

मेक्सिको के छात्रों का शानदार, प्रेरक संघर्ष

सस्ती और सर्वसुलभ शिक्षा के हक के लिए नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के विरुद्ध नौ माह तक चले ऐतिहासिक छात्र-आन्दोलन को फिलहाल कुचल दिया गया है पर इसकी मशाल मेक्सिको ही नहीं, सारी दुनिया के संघर्षरत छात्र-युवाओं को रोशनी और गर्मी देती रहेगी

अरविन्द सिंह

भारत के कोने-कोने में आज छात्र और नैजवान फीसों में बेतहाशा बढ़ोत्तरी, सीटों में कटौती और शिक्षा को बाजारू माल बना देने वाली नीतियों के खिलाफ अलग-अलग जूझ रहे हैं। हर जगह आज उन्हें पीछे हटना पड़ रहा है क्योंकि इन नीतियों के पीछे सारी दुनिया के लुटेरे वर्गों की एकजुट ताकत हैं जो इनके किसी भी विरोध को हर कीमत पर कुचल डालने पर आमादा हैं।

हम यहां हजारों मील दूर मेक्सिको के अपने युवा भाई-बहनों के उस अद्भुत और शानदार संघर्ष की कहानी हम अपने पाठकों के लिए प्रस्तुत कर रहे हैं जिसकी आंच को बुर्जुआ मीडिया ने हम तक पहुंचने ही नहीं दिया। (इस आन्दोलन पर आह्वान का जनवरी-मार्च 2000 अंक में छपी रिपोर्ट भी देखें)

इस वर्ष 6 फरवरी को मेक्सिको की हथियारबन्द पुलिस ने लातिनी अमेरिका के सबसे बड़े विश्वविद्यालय नेशनल आटोनॉमस युनिवर्सिटी आफ मेक्सिको' (युनाम) के विशाल कैम्पस पर धावा बोलकर नौ महीने से चले आ रहे ऐतिहासिक छात्र आन्दोलन को कुचल दिया।

20 अप्रैल 1999 को युनाम के 2,70,000 छात्रों ने उच्च शिक्षा में राजकीय सहायता में कटौती करने, सालाना प्रतीकात्मक फीस 2 सेंट में 7250 गुना की भयंकर बढ़ोत्तरी करने तथा अन्य छात्रविरोधी नीतियों के खिलाफ जोरदार आन्दोलन शुरू किया था। (1910 की क्रान्ति में हासिल अधिकारों के चलते यहां शिक्षा लगभग निःशुल्क थी।) 23 अप्रैल को मेक्सिको सिटी में एक विशाल प्रदर्शन हुआ जिसमें लगभग एक लाख छात्रों और

आम लोगों ने हिस्सा लिया। इसके ठीक दो दिन बाद 25 अप्रैल को हड़ताली छात्रों ने युनाम के प्रशासकीय भवन पर कब्जा कर लिया। उन्होंने युनाम के टावर पर हड़ताल और संघर्ष के प्रतीक के रूप में लाल और काले बैनर टांग दिये। विश्वविद्यालय बंद कर दिया गया और शुरू हुई एक ऐतिहासिक लड़ाई।

इन नौ महीनों के दौरान विश्वविद्यालय छात्रों के कब्जे में रहा और छात्रों-युवाओं शिक्षकों-कर्मचारियों-मजदूरों और किसानों की एकता और एकजुट संघर्ष की अविस्मरणीय मिसालें यहां कायम हुईं।

युनाम का संघर्ष पूरे लातिनी अमेरिका में आम लोगों के शिक्षा के अधिकार की लड़ाई का प्रतिनिधित्व करता था। मेक्सिको की सरकार की नवउदारवादी आर्थिक नीतियों से पैदा हुए गहरे असंतोष ने इस आन्दोलन को और व्यापक बना दिया था।

गिरफ्तारियों का सिलसिला 2 फरवरी को ही शुरू हो गया था। गृहमंत्री दियोदोरो कैरास्को ने युनाम से लगे हाईस्कूल के भवन को अपने कब्जे में ले चुके छात्रों पर 'कोबरा' नाम से कुछात फेडरल प्रीवेंटिव पुलिस को टूट पड़ने का आदेश दे दिया। यह वही अर्द्धसैनिक बल था जिसने 1997 में मेक्सिको सिटी के पड़ोसी कस्बे में आन्दोलनकारी नैजवानों को क्रूरता से मौत के घाट उतार दिया था।

6 फरवरी को सुबह छह बजे नवगतित 'आतंकवाद निरोधक केन्द्रीय पुलिस बल' ने युनाम परिसर को चारों ओर से घेर लिया। छात्रों के मुकाबले भारी संख्या में सौजूद पुलिस बल ने परिसर में जबरन प्रवेश कर आन्दोलन का संचालन कर रही हड़ताली आम परिषद (सीजीएच) के 700 से ज्यादा छात्रों को गिरफ्तार कर दिया और उनपर आतंकवादी होने, राजकीय सम्पत्ति को नष्ट करने, डकौती, तोड़फोड़ और दंगा करने के तमाम आरोप

मढ़ दिये। साफ जाहिर था कि राज्य मशीनरी अपने पूरे दमनतंत्र के साथ आन्दोलन के छात्र और शिक्षक नेताओं को नेस्तनाबूद कर देना चाहती थी। अगर उन पर आतंकवादी कार्रवाइयों में शामिल होने का आरोप पुलिस साबित कर देती तो वहां के कानून के मुताबिक उन्हें 40 वर्ष तक की गैर जमानती कैद की सजा मिल सकती थी। सरकारी नीयत का उदाहरण पहले ही सामने आ चुका था जब सरकार ने एक प्रोफेसर को कोई मामूली आरोप लगाकर गिरफ्तार कर लिया लेकिन उन्हें "सार्वजनिक व्यवस्था के लिए खतरनाक" बताकर जमानत देने से इंकार कर दिया था।

दिन निकलते ही पुलिस और अर्द्धसैनिक बलों ने हड़ताल समर्थक छात्रों और शिक्षकों को गिरफ्तार करने के लिए दूसरे कालेजों, यहां तक कि रिहायशी मकानों पर भी हमला बोल दिया। 'आपरेशन युनाम' की चपेट में गृहणियां, पड़ोसी, निर्माण कार्य में लगे मजदूर, यहां तक कि विश्वविद्यालय भवन में सो रहे 8-8 वर्ष के अनाथ बच्चे तक आ गये। सभी गिरफ्तार कर लिये गये। हड़ताली छात्रों और हथियारों के लिए चप्पे-चप्पे की तलाशी ली गयी। पर सरकारी दावे के विपरीत कोई हथियार नहीं पाया गया।

सरकार तो आन्दोलन शुरू होते ही युनाम पर धावा बोल देना चाहती थी लेकिन तब उसकी ऐसा करने की हिम्मत नहीं थी क्योंकि छात्रों ने मजदूरों-कर्मचारियों के साथ मिलकर एक मजबूत रक्षक दल गठित कर लिया था। इसमें छात्रों के साथ विश्वविद्यालय कर्मचारी यूनियन, मेक्सिको बिजली मजदूर यूनियन और मेक्सिको शैक्षणिक कर्मचारियों की राष्ट्रीय संगठनिक कमेटी शामिल थी। मजदूर संगठनों तथा सरकारी नीतियों के विरुद्ध व्यापक आबादी को गोलबद्द कर सशस्त्र संघर्ष चला रहे जपाटिस्टा विद्रोहियों के साथ सम्बन्ध से

जाहिर है कि युनाम की हड्डताल केवल परिसर तक सीमित और गैर-राजनीतिक नहीं थी। संघर्ष सिफ़ फीस बढ़ोत्तरी के मुद्दे पर ही नहीं था बल्कि यह शिक्षा के निजीकरण और देश को तबाही की ओर ले जा रही आर्थिक नीतियों के भी खिलाफ था। जपाटिस्टा विद्रोहियों के नेता सबकमांडेंट मारकोस ने शुरू में ही छात्रों को सचेत किया था कि फीसें लागू करने का निर्णय युनाम को निजी हाथों में सौंपे जाने का पूर्वसंकेत है। सी जी एच ने बार-बार इस बात पर जोर दिया कि उनके संघर्ष के केन्द्र में ये व्यापक मुद्दे हैं। यही कारण था कि मेक्सिको सरकार, लातिनी अमरीका के दूसरे देशों के हुक्मरान और उनके साप्राच्यवादी आका युनाम के संघर्ष को जल्द से जल्द कुचल डालना चाहते थे।

जबसे छात्रों ने परिसर को अपने नियंत्रण में ले लिया था, तभी से सरकार ने संघर्ष को तोड़ने के लिए गुपचुप तैयारियां शुरू कर दी थीं। बहुत से लोगों को डर था कि दो अक्टूबर 1968 का काला दिन फिर दोहराया जायेगा जब सेना ने छात्रों के एक जुलूस पर हमला करके 60 से ज्यादा लोगों को मार दिया था और सैकड़ों को घायल कर दिया था। इस बार सरकार मौके की खोज में थी। उसने तत्काल बल प्रयोग नहीं किया पर फेडरल प्रीवेंटिव पुलिस के साथ सैन्य पुलिस की एक ब्रिगेड भी तैनात कर दी जिसमें 5000 सिपाही थे।

छात्रों को उकसाने के लिए सादे वेश में पुलिस के गुण्डे परिसर में धूम-धूमकर हिंसा भड़काने की कोशिश करते रहते थे। उन्होंने अनेक छात्रों की बुरी तरह पिटाई कर डाली जिनमें छात्रों के नेता जुआन कार्लोस जराटे, रोड्रिगो फिगुएरोआ, रिकार्डो मार्टिनेज और अलेजांद्रो एचेवारिया शामिल थे। लेकिन छात्र सतर्क थे और किसी चाल में नहीं आये।

इस बीच इन नौ महीनों में छात्रों ने अपनी रचनात्मकता और संगठन क्षमता का अद्भुत परिचय दिया। विश्वविद्यालय परिसर को अपने कब्जे में लिये हजारों छात्रों-युवाओं के लिए सामुदायिक भोजनालय चलाये जाते थे। इनके लिए अभिभावक, मजदूर यूनियन, किसान और आन्दोलन के शब्दों में, “संघर्ष की गर्मी के दौरान भी लगभग रोज़ प्रेस कांफ्रेंसें होती हैं और छात्रों की कमेटियां लगातार नयी स्थितियों पर चर्चा करती हैं तथा बैनर, पर्चे-पोस्टर और अन्य

प्रचार सामग्री तैयार करती हैं। यही नहीं छात्र विभिन्न विषयों पर नियमित रूप से सेमिनार और वर्कशाप भी आयोजित करते हैं।”

आन्दोलन के दौरान छात्रों ने कई विशाल जुलूस निकाले। दो अक्टूबर 1999 को 60,000 लोगों ने युनाम से लेकर प्लाजा आफ थी कल्चर्स तक के 15 किलोमीटर लम्बे रास्ते पर मार्च किया। यही वह जगह थी जहां 1968 में छात्रों का कल्त्तेआम हुआ था। इससे एक माह पहले बिजली धरों के निजीकरण के खिलाफ बिजली मजदूरों के संघर्ष के समर्थन में 30,000 छात्र सड़कों पर उतर पड़े थे। साथ ही व्यापक छात्र समुदाय को अपने मुद्दों से जोड़ने के लिए सीजीएच ने कई राष्ट्रीय छात्र सम्मेलन आयोजित किये जिनमें पूरे मेक्सिको से छात्र आकर शामिल हुए। छात्रों के इन तौर-तरीकों ने व्यापक आम आबादी का दिल जीत लिया था।

लेकिन सरकार पूरी जिद के साथ अपने रुख पर अड़ी हुई थी। सार्वजनिक शिक्षा पर सक्षिप्ती घटाने के अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के निर्देश पर मुस्तैदी से अमल करते हुए युनाम के रेक्टर फ्रांसिस्को बार्निस ने मात्र दो सेंट की प्रतीकात्मक फीस में 7250 गुना बढ़ोत्तरी कर उसे 145 डालर तक लाने की योजना रखी थी। मई 2000 में सरकार ने इसमें 30 प्रतिशत की कमी करने का प्रस्ताव किया। छात्रों ने इस चाल को खारिज कर दिया क्योंकि उन्हें मालूम था कि हड्डताल का आवेग खत्म होते ही अगले सत्र से इसे फिर बढ़ा दिया जायेगा। हड्डताली आम परिषद (सीजीएच) ने अपनी मांगों में एक और बड़ा मुद्दा यह जोड़ दिया कि विश्वविद्यालय प्रशासन का पुनर्गठन किया जाये तथा इसे मिलकर चलाने के लिए प्रशासनिक अधिकारियों के साथ छात्रों, शिक्षकों और कर्मचारियों को भी बराबरी के साथ शामिल किया जाये। छात्रों ने विश्वविद्यालय में दाखिले की प्रक्रिया में सुधार की भी मांग रखी।

प्रशासन ने इसे पूरी तरह खारिज कर दिया और सीजीएच ने घोषणा की कि छात्रों को लम्बी लड़ाई के लिए तैयार रहना होगा। छात्र पूरी तरह सीजीएच के साथ थे। युनाम की बन्दी के 100 दिन पूरे होने पर 28 जुलाई को दसियों हजार छात्रों ने विशाल जुलूस निकालकर दिखा दिया कि उनकी फैलाई एकता में कोई दरार नहीं आयी है।

आन्दोलन को व्यापक समर्थन की बजह समझना मुश्किल नहीं है। 1994 में मेक्सिको

की अर्थव्यवस्था ढहने के कगार पर पहुंच गयी थी और आई.एम.एफ. तथा अमरीका ने 50 अरब डालर का कर्ज देकर उसे उबारा था। ‘नार्थ अमेरिकन फ्री ट्रेड एग्रीमेंट’ (नापा) के जरिए अमरीका ने मेक्सिको की अर्थव्यवस्था को अपने साथ नहीं कर लिया। तब से सन 2000 तक अर्थव्यवस्था के आंकड़े काफी सुधर गये हैं। विकास दर बढ़ी है, नियांत दूना हो गया है और सकल धरेलू उत्ताप्त में वृद्धि हुई है। विदेशी निवेश भी दोगुना हो गया है। लेकिन इन चमकदार आंकड़ों के बावजूद मेक्सिको के मजदूरों की मजदूरी में 1994 के मुकाबले 40 प्रतिशत की गिरावट आयी है। बेरोजगारी बढ़ रही है। छात्र जानते हैं कि उच्च शिक्षा पाने के बावजूद उनमें से ज्यादातर का कोई भविष्य नहीं है। चौतरफा फैली हताशा और असन्तोष युनाम के जुआर छात्र-नौजवानों के माध्यम से प्रकट हो रहे थे।

पूरे दक्षिण अमरीका में इस लम्बी लड़ाई का असर हो रहा था। कई देशों में छात्रों ने आई एम एफ के निर्देश पर बदली जा रही शिक्षा नीतियों के खिलाफ हड्डतालें शुरू कर दीं। 20 मई को चीले के चार प्रमुख शहरों—सैंतियागो, वैलपराइसो, कंसेप्सियोन और एरिका—में छात्रों ने शिक्षा पर खर्च में कटौती के खिलाफ विशाल प्रदर्शन किये और सड़कों पर पुलिस से लोहा लिया। बोलीविया में नवम्बर में सांताक्रुज के गैंग्रीयल रेने मोरिनो विश्वविद्यालय के छात्रों और अध्यापकों ने बजट में कटौती और स्वायत्तता को खत्म करने वाले कानूनों के विरुद्ध प्रदर्शन किया। पूरे महाद्वीप में फैल चुके इस संघर्ष से उत्साहित युनाम के छात्र नवम्बर में एक विराट रैली के साथ मेक्सिको सिटी में उमड़ पड़े जिसने दुनिया के इस चंद्र सबसे बड़े शहरों में से एक को बिलकुल ठप कर दिया। इसके बाद सरकार बौरा सी गई। किसी भी कीमत पर इस संघर्ष को कुचल डालने की तैयारियां शुरू कर दी गईं। पर प्रत्यक्षतः कुछ नहीं किया गया यह जिससे छात्र थोड़े निश्चिन्त हो गये। कुछ दंव-पैंच सम्बन्धी गलतियां भी उनसे हो गईं जिनसे उनका जनसमर्थन कुछ कम हो गया। इसी मौके की ताक में बैठी सरकार फरवरी के शुरू में युनाम के बागी नौजवानों पर टूट पड़ी। लेकिन गिरफ्तारी और युनाम के छात्रों के नियंत्रण से छिन जाने के बाद भी संघर्ष खत्म नहीं हुआ। गिरफ्तार छात्रों ने जेल में भूख हड्डताल कर दी और “मेक्सिको की जनता

(शेष पृष्ठ 18 पर)

कविता

शशि प्रकाश

जानते थे हम
एक दिन हमें पीछे हटना होगा।
हम अभी कमज़ोर हैं,
बहुत अधिक कमज़ोर,
ब्यूनस आर्थर्स और मेक्सिको सिटी
और वाशिंगटन डी.सी. की हत्यारी शक्ति के आगे।
इसलिए, आओ हत्यारे,
यह समय तुम्हारा है।
अभी पारी तुम्हारी है।
आओ,
कट्टीले तारों, संगीनों,
शिकारी कृत्तों, सिक्कों और बलात्कारी पौरुष के साथ
और कहो
अपने विद्वान् तुदियल मकड़ों से
पाणित्य के बारीक नीले धागों से
जाला बुनने के लिए,
नकली गरिमा भरे भारी-भरकम शब्दों से
ओस और आंसू सने पंखों को
कुचल देने के निर्देश दे दो
हाथों में कलम सधे जल्लादों को,
दीमकों से कहो, वे फिर से
हमारी आत्माओं में घुसकर
अपना काम शुरू कर दें।
हमारा 'युनाम'
हम दो लाख सत्तर हजार युवाओं का 'युनाम'
अब फिर तुम्हारा है।
पर याद रखना
हमारे कब्जे के नौ माह,
हमारी इस लड़ाई ने
धारण किया गर्भ में
फिर से एक विचार, एक स्वप्न।
उसे तुम मार नहीं सकते।
जैसे पहाड़ों में जीवित है
जपाटिस्टा आग,
वैसे ही यह हमारे दिलों में
सुलगता रहेगा।
ट्रेड यूनियनों के मददगार साथियों,
जांबाज जपाटिस्टा कामरेडों,
शुक्रिया नहीं कहेंगे तुम्हें,
कहेंगे, 'संघर्ष जिन्दाबाद'
इक्कीसवीं सदी के जलते मेक्सिको में।
हम जानते हैं कि
हमने लड़ाई में गलतियां भी कीं

नासमझी भरी, बचकानी, युवा-सुलभ,
पर हमने सीखा।
यह सीखने
और याद करने की एक छोटी-सी लड़ाई थी।
हमने पाया कि
हमें भूला नहीं है 2 अक्टूबर 1968 का दिन,¹
न गलियों में बहता वह लहू, न संगीनें,
न ध्रुआं, न राख।
हमने पाया कि
हम लड़ सकते हैं
और यह भी कि
लोग हमारे साथ हैं।
शुक्रिया पिताओं और माताओं
कि आंसू जब्ब करते हुए
दुखते दिलों को दबाकर
तुमने हमसे कहा, 'डटे रहो।'
शुक्रिया नागरिकों,
उस रसद के लिए
जो तुमने हमारे सामूहिक भोजनालयों में भेजी,²
घबराना नहीं,
उनकी जेलें तोड़ नहीं सकतीं
जुआन कालोंस ज़राते, रोड़िगो फिगुएरोवा,
रिकार्डो मार्टिनेज़ और अलेकजाण्ड्रो इचेवारिया³
और उन जैसे दूसरों को।
हमने महज एक छोटी-सी लड़ाई लड़ी है
सीखने की,
याद करने की
और जुड़ने और जोड़ने की
और तैयारी करने की
और यही छोटी-सी लड़ाई लड़ी है
चीले में सातियागो, वाल्यारैसो, कंसेप्सियोन
और एरिका के
और बोलीविया में सान्ता क्रुज के
हमारे भाइयों ने⁴
हम समझने लगे हैं
कि चीजों को अधेरे से बाहर लाकर
पहचान देना कितना जरूरी है,
कितना जरूरी है
खोई हुई चीजों को
वॉल स्ट्रीट से वापस लाना
अपने जंगलों और अपने नदियों की तलहटी में
और यह जानना कि
हमारी लातिनी दुनिया की जिन्दगी

अंधेरे में खड़ी पत्थर की दीवार नहीं है।

हम कहेंगे उनसे कि

तुम ऐसा नहीं कर सकते,

हमारी दुनिया का रहस्य

तुम्हारी मण्डी में बिकने के लिए नहीं है।

उसे लौटा दो

हमारे जंगलों की बसन्त की फड़फड़ाहट

और प्यारे बूढ़े पतझड़ और स्वप्नों

और पानी के विद्रोह के साथ।

हम समझने लगे हैं

दुनिया की तमाम लड़ाइयों

और पराजयों

और दुरभिसन्धियों को।

यह तो जानते ही थे हम

कि हमें इस बार पीछे हटना होगा।

अभी जो धूल बैठ रही है

चीजों पर,

उसे बैठना ही है

व्यापेक वह उड़ चुकी है।

वह झाड़ी जायेगी

सभी महाद्वीपों की चादरों से

बहुत मेहनत, तरतीब और सलीके के साथ।

फिर एक बार इन्द्रधनुष की

प्रत्यंचा खिंचेगी और छूटेगी

और तीर की तरह यह सदी

एक नई, बड़ी दुनिया में जा गिरेगी।

३०७०

टिप्पणियां

1. दो अक्टूबर 1968 को सेना ने छात्रों के एक प्रदर्शन पर बर्बर हमला किया जिसमें 60 से ज्यादा नौजवान मारे गये और सैकड़ों घायल हो गये।

2. युनाम पर नौ महीने के कब्जे के दौरान छात्र सामूहिक भोजनालय चलाते थे जिसके लिए अधिभावक, मजदूर यूनियन और आन्दोलन के शुभविन्तक हर हफ्ते कई टन खाद्य-सामग्री भेजते थे।

3. सादी वर्दी में पुलिस के लोगों ने बहुत से छात्रों की पिटाई की। इनमें छात्रों के नेता कालोस जराटे, रोड़िगो फिगुएरोवा, रिकार्डो मार्टिनेज और अलेजान्द्रो इचेवारिया भी शामिल थे।

4. चीले के चार प्रमुख शहरों—सान्तियागो, वाल्पारैसो, कंसेप्सिओन और एरिका में 20 मई 1999 को छात्रों ने और नवम्बर में बोलीविया के सान्ताक्रुज विश्वविद्यालय के छात्रों और शिक्षकों ने शिक्षा पर खर्च में कटौती तथा विश्वविद्यालयों की स्वायत्ता खत्म करने के विरोध में उग्र प्रदर्शन किये।

मेक्सिको के छात्रों का शानदार, प्रेरक संघर्ष

(पृष्ठ 16 का शेष)

का नाम एक घोषणापत्र "जारी किया जिसमें कहा गया था—“हम निःशुल्क शिक्षा के लिये और अन्याय के विरुद्ध लड़ना जारी रखेंगे... हमारे लोगों का यह संघर्ष उन धृणित राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थितियों की परिणति है जिसमें रहने के लिए हमारा देश बाध्य है।”

युनाम के आन्दोलनकारी छात्रों पर हमले से देश भर में विरोध की लाहर उठने लगी। उसी रात कैप्सस में 15,000 लोगों का जुलूस निकला। अगले दिन जपाटिस्टा संगठन, मानवधिकार ग्रुप, क्रान्तिकारी ग्रुप और यूनियनों समेत अस्सी संगठनों ने सीजीएच को अपना समर्थन दिया। बारजों (छोटे किसानों और नई आर्थिक नीतियों से तबाह छोटे व्यापारियों का आन्दोलन) ने छात्रों की रिहाई के लिए राष्ट्रीय स्तर पर मांग उठाई और मेक्सिको को तथा अमेरिका की सीमा पर नाकबन्दी करने का ऐलान कर दिया।

संघर्षरत छात्रों के अधिभावकों और मित्रों ने उनकी रिहाई की मांग को लेकर पुलिस स्टेशन के सामने जबर्दस्त प्रदर्शन किया। उनमें से कई तो 1968 के छात्र आन्दोलन के जुझारू नेता थे और इस आन्दोलन ने उनमें पुराने दिनों के संघर्षों की यादें ताजा कर दी थीं।

सीजीएच के बचे सदस्यों ने अपनी छह सूत्रीय मांगों में एक मांग और जोड़ ली—अपने साथियों को रिहा करने की। उन्होंने अपनी मांगों के समर्थन के लिए प्रेस विज्ञप्तियां जारी कीं। विश्वविद्यालय के कुलपति ने हड़ताल के प्रश्न पर विश्वविद्यालय समुदाय को बांटने की चाल चली और अपने पक्ष में साजिशाना ढांग से जनमत संग्रह कराने में सफल रहा। उसकी फरेबी चाल में सत्ताधारी राजनीतिक दल पी.आई.आई. पूरी तौर से साझीदार था। फिर उसने हड़ताल विरोधी छात्रों, शोधकर्ताओं तथा अन्य लोगों को परिसर में घुसा कर हड़ताली छात्रों के विरोध में सभा करने के लिए उकसाया और जानबूझकर पूरे परिसर में एक तनाव का माहौल बनाने की कोशिश की। लेकिन पासा पलट गया। हड़ताल में उत्तरे छात्रों ने इन हड़ताल विरोधी लोगों को अपनी सभाओं में आमंत्रित किया और अपना पक्ष रखा और अधिकतर मामलों में उन्हें अपने संघर्ष का हमसफर बना लिया। उनके साथ मिलकर उन्होंने अपनी सात सूत्रीय

मांगों पर प्रशासन से बातचीत करने के लिए एक संयुक्त घोषणापत्र जारी किया।

‘युनाम’ के अन्य लोग भी जो पहले कुलपति के जांसे में आकर हड़ताल का विरोध कर रहे थे, उन सभी छात्र-शिक्षक-अधिभावक और ‘युनाम’ के मेहनतकश लोगों ने अंततः सच्चाई व न्याय का साथ दिया। वे एक हाम सभा में इकट्ठा हुए और गिरफ्तार छात्रों की रिहाई और उन्हें आरोपमुक्त करने की मांग को लेकर संगठित होने का निर्णय लिया। इतना ही नहीं उन्होंने कुलपति की साजिश को पहचाना और इसके खिलाफ एक हस्ताक्षर अभियान चलाने का फैसला किया। इसके लिए इस आशय का प्रपत्र तैयार किया गया—“जनमत संग्रह में मेरी भागीदारी एक विश्वास के नाते थी... भागीदारी करने के मेरे निर्णय का यह आशय कर्तई नहीं कि पुलिस दमन और उत्पीड़न पर मैंने अपनी मुहर लगा दी है।”

‘युनाम’ के छात्रों की यह हड़ताल वास्तव में मेक्सिको सरकार और उनके साम्राज्यवादी आकाऊं की नीतियों के विरुद्ध एक लम्बे फैसलाकुन संघर्ष की तैयारी है। उन आर्थिक नीतियों के विरुद्ध, जिन्होंने आम जनता की जिन्दगी को तबाह-बर्बाद कर दिया है और जो अब निःशुल्क शिक्षा के बुनियादी अधिकार को भी छीन लेना चाहती है।

भारत और मेक्सिको में बहुत सी समानताएँ हैं। हमारी तरह मेक्सिको भी प्राचीन सभ्यता और कई संस्कृतियों वाला देश है। दोनों ही देशों की जनता देशी शासक वर्गों की लूट-खासोट, भयंकर भ्रष्टाचार और बर्बर दमन की शिकार है। मेक्सिको किंवद्देशी कर्ज के जाल में बुरी तरह फँसा है और भारत के शासक भी इस मकड़ाजाल में देश को उलझा चुके हैं। दोनों देशों की मेहनतकश जनता पर भूमंडलीकरण के दौर की लुटेरी आर्थिक नीतियों का कहर बरपा हो रहा है। लेकिन दोनों में एक बहुत बड़ा फर्क है। मेक्सिको के छात्र-युवा अपने देश के मजदूरों-किसानों के साथ कंधे से कंधा जोड़कर इन तबाही लाने वाली नीतियों के खिलाफ लम्बी लड़ाई में उत्तर चुके हैं। पर हमारे देश के नौजवान अभी भ्रम, भटकाव और बिखराव से उबर नहीं पाये हैं। युनाम के हमारे साथियों के संघर्ष की ज्वाला हमें रोशनी दिखा रही है। आओ, उठ खड़े हों।

स्वयंसेवी संगठनों से सावधान जनता क्लाज फैट चोगे में शैतान छुपा है

अभिनव सिन्हा

स्वयंसेवी संगठन या गैर सरकारी संगठन (एन.जी.ओ.) किसकी सेवा करते हैं? इन संगठनों की "सेवा" की असलियत से अपरिचित कोई व्यक्ति अपनी मोटा-मोटी जानकारी के आधार पर यही कहेगा—"जनता की सेवा"। लेकिन ये जनता की सेवा किस तरह कर रहे हैं और इसके नाम पर असली सेवा किसकी कर रहे हैं, इसे जानने के लिए आइये सबसे पहले इनकी "जनसेवा" के एक नायाब नमूने से चर्चा की शुरुआत करें।

उत्तराखण्ड के अल्मोड़ा जिले में एड्स के उन्मूलन के लिए काम करने वाली एक स्वयंसेवी संस्था 'सहयोग' ने कुछ महीने पहले अपने बॉस और दानदाता संगठन "मैक आर्थर" को एक सर्वेक्षण रिपोर्ट भेजी—'उत्तराखण्ड में एड्स की सम्भावना'। बेहद अश्लील भाषा एवं बेहूदे अन्दाज में लिखी इस रिपोर्ट को पढ़कर कोई भी यही समझेगा कि उत्तराखण्ड स्वच्छन्द यौनाचार का अद्भुत है। संस्था से जुड़े "जनसेवकों" को अपने सर्वेक्षण में यह नहीं दिखायी दिया कि उसी उत्तराखण्ड में हजारों लोग टी.बी. और उल्टी-दस्त जैसी आम बीमारियों से मर रहे हैं। लेकिन एक करोड़ रुपये से अधिक वार्षिक बजट वाली इस संस्था को इससे क्या मतलब? उसे तो बजट पास कराने के लिए एड्स की प्रबल सम्भावनाओं को अपनी रिपोर्ट में दर्शाना था क्योंकि इसी बीमारी के उन्मूलन के नाम पर वे सेवा-कार्य कर रहे थे। दिलचस्प तथ्य यह है कि सरकारी सूत्रों के अनुसार पूरे उत्तराखण्ड में एड्स का एक भी ज्ञात रोगी नहीं है परन्तु इस क्षेत्र में इस तरह की दो स्वयंसेवी संस्थाएं काम कर रही हैं।

"सहयोग" का दुर्भाग्य यह कि यह रिपोर्ट एक पत्रकार के हाथ लग गयी और सार्वजनिक हो गयी। इसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया के रूप

में उत्तराखण्ड की जनता इसके कर्ता-धर्ता अभिजीत दासगुप्ता को पकड़कर पीटने पर उतारू हो गयी थी। प्रशासनिक अधिकारियों का शुक्र कि मौके पर पहुंचकर उन्होंने दासगुप्ता, उसकी पत्नी एवं एक दर्जन कर्मचारियों को गिरफ्तार कर सुरक्षित जेल में पहुंचा दिया, वरना जनता का कोप कहर बन सकता था। बहरहाल, हालत यह हुई कि वकीलों के मंगठन के असहयोग के फैसले के कारण दासगुप्ता को जमानत के लिए वकील तक मिलना मुश्किल हो गया।

यह है इन संस्थाओं की कारस्तानियों की एक झलक। कोई कह सकता है कि यह तो अपवाद है। अधिकतर स्वयंसेवी संस्थाएं तो ईमानदारी से और पूरी कर्मठता के साथ सेवा-कार्य में लगी हुई हैं। लेकिन असलियत यह है कि यह तो स्वयंसेवी संस्थाओं के संजाल में लगे हुए लोगों के भ्रष्टाचार और छल-प्रपञ्च की एक छोटी-सी घटना मात्र है। सिर्फ इस घटना से उनके वास्तविक चरित्र एवं उनके असली मंसुबों के बारे में पता नहीं लगाया जा सकता। आइये, थोड़ी और गेहराई में छानबीन करें क्योंकि इनका कार्यक्षेत्र कहीं अधिक व्यापक और कार्यप्रणाली काफी बारीक है।

व्यवस्था विरोध का मुखौटा और किसिम-किसिम के सिद्धान्तों का भ्रमजाल

उत्तर से लेकर दक्षिण तक और पूर्व से लेकर पश्चिम तक, महानगरों से लेकर कस्बों और सूदूरवर्ती गांवों तक, जंगलों से लेकर पहाड़ों तक—देश का कोई भी हिस्सा आज अदृश्य नहीं बचा है, जहां एन.जी.ओ. की घुसपैठ नहीं हो चुकी है। साक्षरता प्रसार कार्यक्रम, विभिन्न स्वास्थ्य प्रोजेक्ट, विभिन्न प्रकार के पर्यावरण आन्दोलन, स्त्री सशक्तिकरण मुहिम साम्प्रदायिकता विरोधी मुहिम, विभिन्न

आदिवासी समूहों के आर्थिक-सामाजिक उत्थान के कार्यक्रम आदि विविध एवं बहुस्तरीय सामाजिक गतिविधियों में ये सक्रिय हैं। इसके साथ ही, अकादमिक जगत में भी इनकी घुसपैठ काफी गहरी है। पूरी दुनिया के स्तर पर स्वयंसेवी संगठनों के व्यावहारिक क्रियाकलापों को सैद्धान्तिक जामा पहनाने के लिए भाँति-भाँति के सिद्धान्तों, नवी-नवी प्रस्थापनाओं की अच्छी-खासी सप्लाई अकादमिक जगत के इन घुसपैठियों द्वारा लगातार जारी रहती है।

"जनता को हर काम के लिए सरकार का मुंह नहीं जोहना चाहिए," "जनता को खुद पहलकदमी लेनी चाहिए" आदि आकर्षक और प्रगतिशील-सी लगने वाली जुमलेबाजियों और नारों का प्रचार-प्रसार करते हुए स्वयंसेवी संगठन शिक्षा एवं स्वास्थ्य आदि मसलों पर जनता को जागरूक बनाने, स्कूल-अस्पताल चलाने, आर्थिक रूप से आव्वनिर्भर बनाने के लिए स्वयं सहायता समूहों का गठन करने जैसी तमाम सुधारपरक गतिविधियां संचालित कर जनता की पहलकदमी और सुजनात्मकता को विकसित करने का दम भरते हैं। लेकिन, सामाजिक उत्तरदायित्व के इन कामों को आखिर सरकार व्यों नहीं पूरा कर रही है? क्या हैं उसकी मजबूरियां और सीमाएं? इन बुनियादी सवालों के बारे में सोचने-विचारने से जनता को कोई मतलब नहीं रखना चाहिए—स्वयंसेवी संगठनों की सुधारपरक व्यावहारिक कार्रवाइयां और उनके पीछे निहित सिद्धान्तों का निचोड़ यही है।

सुधारपरक कार्रवाइयों के साथ-साथ अक्सर कई मुद्दों पर स्वयंसेवी संगठन कई "रैडिकल" (उग्र) दिखायी पड़ने वाले संघर्षों को भी संगठित करते हैं। दलित उत्पीड़न, स्त्री-उत्पीड़न, नागरिक एवं जनतांत्रिक अधिकारों से जुड़े मुद्दों, भ्रष्टाचार, पुलिसिया उत्पीड़न आदि से जुड़े मसलों पर स्थानीय प्रशासन के साथ और कभी-कभी सरकारों तक से संघर्ष में उत्तरते दिखायी पड़ते हैं। पर्यावरण आन्दोलन में इनकी भागीदारी का स्वरूप जगजाहिर है। लेकिन, ये सभी संघर्ष-आन्दोलन अलग-अलग रूप के स्थानीयतावाद के शिकार हैं। जन समस्याओं के कारण के रूप में अलग-अलग क्षेत्रों में नौकरशाही के अलग-अलग अंग, कभी कोई स्थानीय पतित तत्व, कभी कोई राजनीतिक पार्टी, कभी-कभी कोई प्रान्तीय सरकार और कभी-कभी केन्द्र सरकार को भी एक

तात्कालिक दुश्मन के रूप में सामने रखकर संघर्षों का संगठन किया जाता है। इससे व्यवस्था विरोध का एक छहम निर्भित होता है लेकिन इन संघर्षों की पाठशालाओं में जनसमुदाय वह चीज नहीं सीखता जिसकी आज सबसे अधिक जरूरत है—यानी अलग-अलग जन-समस्यायें, शोषण-उत्पीड़न के अलग-अलग रूप किस बुनियादी सूत्र से जुड़े हैं? क्या इनसे निजात पाने को कोई उपाय है?

आज महांगाई, बेकारी, अशिक्षा के साथ विभिन्न रूपों के

शोषण-उत्पीड़न से संत्रस्त

आम जनता को इन सीधे-सादे सवालों का जवाब चाहिए कि आखिर राजनीतिक आजादी मिलने की आधी सदी बाद भी आज क्यों बहुसंख्यक मेहनतकश जनता तबाह है? आंसुओं के समुद्र में विलासित के द्वीप कैसे खड़े हो रहे हैं? अध्यपतन की

चरमावस्था पर पहुंच चुकी पूंजीवादी चुनावी राजनीति का विकल्प क्या हो सकता है? ऐसे तपाम बुनियादी सवालों का जवाब तभी मिल सकता है जब देश की समूची आर्थिक-राजनीतिक-सामाजिक व्यवस्था के चरित्र पर रोशनी डाली जाये। उसके बुनियादी अन्तरविरोध और विसंगतियों को जनता के सामने उजागर करना और विकल्प का एक खाका पेश करना आज सबसे जरूरी कामों में से एक है। ठीक यहीं पर स्वयंसेवी संगठनों की असलियत और मंसूबों का पर्दाफाश होता है क्योंकि सुधार एवं संघर्ष की तमाम कार्रवाइयां संचालित करते हुए ठीक इन्हीं 'चीजों' को वे नजरों से ओझल करने की कोशिश करते हैं।

उत्पादन के साधनों पर निजी मालिकाने और बाजार एवं मुनाफे पर केन्द्रित मौजूदा उत्पादन प्रणाली के मौजूद रहते अशिक्षा, बेकारी, भुखमरी, स्त्री-पुरुष गैरबराबरी सहित सामाजिक गैरबराबरी के विभिन्न रूपों, राजनीतिक अधिकारविहीनता, राष्ट्रीयताओं के उत्पीड़न, आदिवासी जनसमूहों की त्रासदी आदि शोषण-उत्पीड़न के विभिन्न रूपों एवं वचनाओं को खत्म नहीं किया जा सकता। यह एक सीधी-सादी सच्चाई है। राजसत्ता के विभिन्न उपकरण, शासक वर्गों की राजनीतिक पार्टियां और सरकारें शोषण-उत्पीड़न पर आधारित इस

उत्पादन प्रणाली को हर सम्भव तरीके से बचाने की कोशिशों में लगातार जुटी रहती हैं। लेकिन इस समूचे ताने-बाने के आपसी सम्बन्धों के बारे में जनता के बीच व्यापक भ्रम मौजूद रहता है। उसके बीच मौजूद इन भ्रमों का निवारण सतत कान्तिकारी राजनीतिक शिक्षण-प्रशिक्षण और विविध स्तरों पर संघर्ष की अनवरत कार्रवाइयों द्वारा ही हो सकता है, जिससे जनता की चेतना उन्नत हो और वह समूची व्यवस्था को उखाड़ फेंकने की दिशा में आगे बढ़ सके। लेकिन, स्वयंसेवी

'बुर्जुआ वर्ग का एक हिस्सा इसलिए सामाजिक व्यथाओं को दूर करना चाहता है ताकि बुर्जुआ समाज को बरकरार रखा जा सके।'

-कार्ल मार्क्स-फ्रेडरिक एंगेल्स 'कम्पनिस्ट घोषणापत्र' में

जा सके और जनता अपनी वास्तविक मुक्ति के रास्ते से बिरत हो सके।

सुधार एवं संघर्ष की इन "जमीनी" कार्रवाइयों का सैद्धान्तिक औचित्य प्रतिपादन अकादमिक एवं बौद्धिक जगत के वे महारथी कर रहे हैं जो प्रगतिशीलता के आवरण में तरह-तरह के भ्रम फैलाने वाले बौद्धिक मालों का उत्पादन कर रहे हैं। इन मालों की खपत स्वयंसेवी संगठनों के कार्यकर्ता सुधार एवं संघर्ष की कार्रवाइयों के दौरान जनता के बीच सचेतन ढंग से करते रहते हैं।

पूंजीवादी राजनीतिक पार्टियों के भ्रष्टाचार एवं पतन से ऊबी जनता को हर प्रकार की राजनीति एवं राजनीतिक पार्टियों से दूर रहकर "अपनी खुद की पहलकदमी" बढ़ाने का नारा दिया जाता है। भ्रष्ट पूंजीवादी राजनीति को राजनीति का पर्यायवाची बनाकर प्रस्तुत करने से जनता के बीच शासक वर्ग की राजनीति और जनता की परिवर्तनकामी राजनीति की विभाजक रेखा मिट जाती है और इस तरह परिवर्तन के विचार से लैस किसी संगठन या राजनीतिक पार्टी को संगठित करने के प्रयासों को धक्का पहुंचता है। "निचले तबकों की पहलकदमी जगाने" का यह प्रगतिशील-सालगाने वाला सिद्धान्त समस्याओं के समाधान के लिए जनता की स्वतःस्फूर्त कार्रवाइयों को

ही सब कुछ मानता है और इस प्रकार वह जनता के संघर्षों के सर्वप्रमुख हथियार—एक क्रान्तिकारी राजनीतिक पार्टी की जरूरत को ही नकारकर व्यवस्था की हिफाजत में खड़ा होता है। अकादमिक जगत में 'सबाल्टन' इतिहासकारों की सोच का भी मूल केन्द्र बिन्दु यही है।

इसी प्रकार जैव विविधता एवं विभिन्न किस्म की पर्यावरणीय तबाहियां, खेती में रासायनिक उर्वरकों के अत्यधिक उपयोग से मिट्टी की उर्वरा शक्ति में कमी आदि संकटों के कारणों के रूप में बाजार एवं मुनाफे की शक्तियों को या यूं कहें कि सीधे-सीधे मौजूदा पूंजीवादी-साम्राज्यवादी तंत्र को कटघरे में खड़ा करने के बजाय "प्रकृति की ओर लौटने" एवं "टिकाऊ खेती", "टिकाऊ विकास" आदि अवधारणाएं प्रस्तुत कर एक विज्ञान विरोधी, प्रकृति विरोधी एवं पुनरुत्थानवादी (यानी पीछे की ओर लौटने) दृष्टिकोण का प्रचार-प्रसार किया जाता है। चिन्तनीय यह है कि विकल्पहीनता में जी रहे और भविष्य के प्रति निराश पढ़ी-लिखी आबादी तक का अच्छा-खासा हिस्सा इन अवधारणाओं से आज प्रभावित भी हो रहा है।

इस तरह की ढेरों अवधारणाएं एवं किसिम-किसिम के विचार आज स्वयंसेवी संगठनों के "थिंक टैंक" थोक में प्रचारित कर रहे हैं, जिनके जनविरोधी व्यवस्थापोषक चरित्र का भाण्डा फोड़ने की आज जरूरत है। छात्रों-युवाओं के बीच इन पर व्यापक बहस-मुबाहसे की जरूरत है। यह अनायास नहीं है कि इस तरह की तमाम बौद्धिक एवं "जमीनी" कार्रवाइयों के लिए स्वयंसेवी संगठनों की दानदाता एजेंसियां भारी रकमें लुटा रही हैं।

दानवीर बने लुटेरों की जरूरतें और मजबूरियां

स्वयंसेवी संगठनों की दानदाता एजेंसियों में दुनियाभर के बहुराष्ट्रीय निगम, एकाधिकारी कम्पनियां, अकूत सम्पत्ति के मालिक ट्रस्ट एवं फाउण्डेशन और पूंजीवादी सरकारें होती हैं। दुनिया भर की जनता के लुटेरे इन संगठनों को भारी धनराशि इसलिए नहीं देते कि वे व्यवस्था का विरोध कर उन्हीं के लिए मुश्किल खड़ी करें। पूरे होशोहवास में जनबूझकर कोई भी कालिदास की मूर्खता नहीं करेगा कि जिस डाल पर बैठे उसी को काटने की कोशिश करें।

दरअसल, विश्वव्यापी पूँजीवादी लूटतंत्र की हिफाजत में लगे हुए बौद्धिक पहरेदार इस लूटतंत्र को धराशायी होने से बचाने के लिए नये-नये नुस्खों की तलाश में सतत सचेष्ट रहते हैं। दुनिया के वे हिस्से जहां क्रान्तिकारी विस्फोटों की सम्भावनाएं दिखायी देती रही हैं वहां सुनियोजित ढंग से स्वयंसेवी संगठनों का व्यापक ताना-बाना खड़ा करने की कोशिशें पिछली सदी के आठवें दशक में ही शुरू हो गयी थीं। लातिनी अमेरिकी देशों में एन.जी.ओ. नेटवर्क की जकड़न और उनकी कारगुजारियां आज बेनकाब हो चुकी हैं। लेकिन भूमण्डलीकरण के दौर की शुरुआत के बाद एन.जी.ओ. नेटवर्क में अभूतपूर्व विस्तार हुआ है और आज यह एक विश्वव्यापी नेटवर्क का रूप ले चुका है।

भूमण्डलीकरण के मौजूदा दौर में अपने संकर्तों के कारण दुनिया के तमाम पूँजीवादी राज्य अपने "कल्याणकारी" मुख्यों को उतारकर निर्लञ्जतापूर्वक शिक्षा, स्वास्थ्य आदि सामान्य जनसुविधाओं का तेजी से बाजारीकरण कर रहे हैं। निजीकरण एवं ढांचागत समायोजन कार्यक्रमों से बेरोजगारों की तादाद में भी बेतहाशा बढ़ोत्तरी होती जा रही है। इन नीतियों की विनाशलीला के शिकार आम जन में अन्दर ही अन्दर गुस्सा एवं असन्तोष खदबदा रहा है और समूचे एशिया-अफ्रीका-लातिनी अमेरिका में जनाक्रोश के बारूद का पलीता सुलगता जा रहा है। कहा नहीं जा सकता कि कब यह पलीता सुलग उठे और जनाक्रोश का विस्फोट जनविरोधी सत्ताओं को खाक कर दे। ऐसे में, विश्व पूँजीवादी तंत्र एन.जी.ओ. को एक 'सेप्टी वाल्च' के रूप में इस्तेमाल कर रहा है जिससे जनाक्रोश के दाब को कम किया जा सके और भावी विस्फोटों को टाला जा सके।

एक तरह से देखा जाये तो स्वयंसेवी संगठन पूँजीवादी राज्य की भूमिका का स्थानापन बनते जा रहे हैं। जिन सामाजिक जिम्मेदारियों को पूँजीवादी राज्य आज तिलांजिलि दे रहे हैं, एन.जी.ओ. सेक्टर उन्हें बढ़कर अपने हाथ में ले रहे हैं। इस तरह राज्य और जनता के गुस्से के बीच एक ढाल बनकर खड़े हो जा रहे हैं।

आज के विश्व पूँजीवादी तंत्र की इस जरूरत और मजबूरी ने ही स्वयंसेवी संगठनों के लिए अरबपति "दानवीरों" के खजाने खोल दिये हैं। जाहिर है, इतनी महत्वपूर्ण सेवा के बदले में भारी बछारीश तो उन्हें मिलनी ही

चाहिए। और सेवा भी कैसी-सान्ताकलाज के चोगे में शैतान के चेहरे को छुपाना। विश्व पूँजीवादी तंत्र के दाग-धब्बों पर रंगेगन करना।

क्रान्तिकारी आन्दोलन के भरती केन्द्रों पर सेंधमारी

सुधार एवं "संघर्ष" की विभिन्न कार्यवाइयों के जरिये जनता की व्यवस्था विरोधी चेतना कुन्द करने के साथ-साथ स्वयंसेवी संगठन एक अन्य तरीके से पूँजीवाद-साम्राज्यवाद की बेहतरीन सेवा कर रहे हैं और देश के क्रान्तिकारी आन्दोलन के समक्ष गम्भीर चुनौती उपस्थित कर रहे हैं। ये अपने कार्यकर्ताओं की भर्ती भी उन्हीं केन्द्रों से कर रहे हैं, जहां से क्रान्तिकारी आन्दोलन की फौजों की भर्तीयां हुआ करती हैं।

अपनी जीवन

स्थितियों के कारण

सुधारवाद की तरफ स्वाभाविक रुझान रखने वाले मध्य वर्ग-उच्च मध्य वर्ग के संवेदनशील छात्र-नौजवान हमेशा ही क्रान्तिकारी विचारों के प्रचार-प्रसार से प्रभावित हो अपने सुधारवादी विभ्रमों से पीछा छुड़ाकर कठिन क्रान्तिकारी जीवन जीने के लिए तैयार होते रहे हैं और क्रान्तिकारी आन्दोलन के संगठनकर्ता-कार्यकर्ता बनते रहे हैं। लेकिन आज इनकी तादाद में कमी को स्पष्टतः महसूस किया जा सकता है। मौजूदा दौर के गतिविधि-उहराव के प्रमुख कारण के अतिरिक्त यह कारण भी आज काफी महत्वपूर्ण है कि इनके बीच से एक अच्छी-खासी आबादी स्वयंसेवी संगठनों की ओर आकर्षित हो विभिन्न सुधारपरक कार्यवाइयों से सन्तुष्ट है। सामाजिक बदलाव का एन.जी.ओ. का "शार्टकट" और सुगम रास्ता उन्हें काफी रास आ रहा है। जनता के स्रोत-संसाधनों पर निर्भर रहकर क्रान्तिकारी जीवन के कट्टों-मुसीबतों को झेलते हुए जनता की सेवा करने के बजाय हर माह बंधी-बंधायी रकम पाते हुए "जनता की सेवा" करने का सुरक्षित रास्ता भला क्यों न सुहायेगा?

संवेदनशील मध्यवर्गीय नौजवानों में पिटे-पिटाये ढंग से जीवन जीने के बजाय

कुछ नये ढंग से जीवन जीने की एक स्वाभाविक चाहत होती है जिसमें "टेबुल वर्क" या रूटीनी कामों की बोरियत न हो। अपनी वर्गीय स्थिति के चलते वे कुछ ऐसे काम भी नहीं कर सकते जिन्हें "निचले दर्जे का काम" कहा जाता है। ऐसे में, एन.जी.ओ. एक मनचाहा और सुविधाजनक रास्ता उपलब्ध करा रहे हैं। आज पत्रकारिता और बौद्धिक जगत की अन्य नौकरियों का जैसे-जैसे टोटा होता जा रहा है वैसै-वैसे इन मध्यवर्गीय नौजवानों में एन.जी.ओ. के प्रति आकर्षण तेजी से बढ़ता जा रहा है।

यही नहीं, निम्न मध्य वर्ग और गरीब तबकों के छात्र भी स्वयंसेवी संगठनों के चंगुल में हैं। बढ़ती बेरोजगारी ने भविष्य के प्रति जो बीहड़ अनिश्चितता पैदा की है उससे गरीब मेहनतकर्शों के घरों से आने वाले तेज-तरार छात्र-छात्राओं को भी एन.जी.ओ. अपनी ओर खींच रहे हैं। इस तरह बेरोजगारों की फौज में से बेरोजगारी भत्ते से भी कम बेतन पर उन्हें भारी संख्या में कर्मचारी उपलब्ध हो जा रहे हैं। इस तरह, एन.जी.ओ. क्रान्तिकारी आन्दोलन के तमाम सम्भावना-सम्पन्न भरती केन्द्रों पर जबर्दस्त सेंधमारी कर रहे हैं।

"...दान दोहरा अभिशाप है : यह दाता को संगदिल और प्राप्तकर्ता को भरमदिल बनाता है। यह गरीबों का शोषण से कहीं अधिक नुकसान करता है, क्योंकि यह उन्हें शोषित हाने का इच्छुक बनात है। यह दास भावना को जन्म देता है, जो नैतिक आत्महत्या ही है।"

-बक व्हाइट, अमरीकी पादरी (भगतसिंह की जेल नोटबुक में उन्हें)

सावधान! "दानवीरों" के टुकड़ों पर पलकर समाज नहीं बदला जा सकता

जब से सरकार ने विश्वविद्यालयों से कहा है—"अपने संसाधनों को स्वयं जुटाओ" और शोध संस्थानों के अनुदानों में भारी कटौती की है, तब से आर्थिक संसाधनों के लिए तमाम शोध संस्थान, विश्वविद्यालय और बौद्धिक गतिविधियों के तमाम केन्द्र स्वयंसेवी संगठनों का मुंह ताकने लगे हैं। हालत यह है कि आप हर एन.जी.ओ. के दरवाजे पर शोध संस्थानों के निदेशकों और विभागाध्यक्षों को कटोरा लेकर खड़े पा सकते हैं। "विद्रोही तेवर" वाले बुद्धिजीवी भी आपको इन संगठनों के दरवाजे भीख मांगते और बड़ी बारीकी के साथ साम्राज्यवादियों के पक्ष में बौद्धिक कार्यों को अंजाम देते मिल जायेंगे।

(शेष पृष्ठ 40 पर)

सामाजिक-सांस्कृतिक ताने-बाने को हिन्दू फासिस्ट-साम्राज्यिक दंग में दंगने की कुचेष्टाएं

मुकुल श्रीवास्तव

अपने घोर जनविरोधी आर्थिक-राजनीतिक कदमों के साथ-साथ भाजपा सरकार जिस सबसे खतरनाक एजेण्डे पर काम करती रही है और कर रही है—वह है कला-साहित्य-संस्कृति-शिक्षा-इतिहास के मोर्चे पर। उसने अकादमिक-शैक्षिक संस्थाओं, सरकारी सांस्कृतिक प्रतिष्ठानों एवं मीडिया को अपनी फासिस्ट विचारधारा एवं संस्कृति के रंग में रंग देने की कोई भी कोशिश उठा नहीं रखी है। लम्बे संघर्षों एवं कुर्बानियों की परम्परा से अर्जित-सुजित क्रान्ति की अन्तर्वेतना, प्रगति की आत्मा, इतिहास दृष्टि, सौन्दर्यबोध, कला-साहित्य-संस्कृति और जनवादी अधिकारों एवं आजादी को, ये हिन्दूवादी साम्राज्यिक फासिस्ट जलाकर राख कर देना चाहते हैं। एक 'इतिहास विहीन युग' की ओर धकेल देना चाहते हैं।

इनके इस सांस्कृतिक अभियान की शुरुआत सभी 'महत्वपूर्ण' जगहों पर संघ काड़र के विश्वसनीय लोगों की तैनाती से होती है। फिर पाठ्य पुस्तकों में फेरबदल करवाने से लेकर इतिहास के "पुनर्लेखन" करवाने तक का क्रम शुरू हो जाता है।

यूं तो पहले भी ये संस्थान मुख्यतः शासक वर्गों की विचारधारा और संस्कृति के पोषक ही थे, परन्तु फिर भी इनमें एक हद तक राष्ट्रीय आन्दोलन द्वारा अर्जित सकारात्मक मूल्य बचे हुए थे—विशेष रूप से 'भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद' (आई.सी.एच.आर.) व 'राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद' (एन.सी.ई.आरटी.) में; जिन पर अकादमिक मार्करेवादी या उदारवादी बुर्जुआ तत्वों का प्रभुत्व था। इन विद्वानों ने भारतीय इतिहास के प्रति पुनरुत्थानवादी साम्राज्यिक दृष्टि के खिलाफ संघर्ष कर इतिहास लेखन में प्रगतिशील एवं जनपरक दृष्टिकोण से कुछ महत्वपूर्ण अकादमिक कार्य किये थे। इन्होंने, इन संस्थाओं

में अपने प्रभाव के दम पर विश्वविद्यालयों-कालेजों व स्कूल स्तर पर भी, एक सीमित हद तक, वैज्ञानिक एवं तर्कपरक पाठ्यक्रम लागू करवाने में सफलता पायी थी।

संघ परिवार ने इसके महत्व को बखूबी समझते हुए इन पर अपना कब्जा जमाना एक जरूरी एजेण्डा बनाया था। इसी पर अमल करते हुए राष्ट्रीय एवं क्षेत्रीय (विशेषतया हिन्दी) समाचार पत्रों में व्यापक प्रचार अभियान चलाकर (इस मुहिम में अरुण शौरी, दीनानाथ मिश्र, भानुप्रताप शुक्ल सरीखे कलमनवीसों ने संघ परिवार की काफी सेवा की। पुरस्कार स्वरूप अरुण शौरी केन्द्र में मंत्री बन बैठे और दीनानाथ मिश्र सांसद) इन संस्थाओं—विशेष रूप से 'भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद' पर कब्जा जमाये "कम्युनिस्टों" पर विषेषण किया गया और अन्ततः इनके ढांचे में तोड़फोड़ करके अपने वकारारों की तैनाती की गयी। आई.सी.एच.आर. के मूल संस्थापक ज्ञापन में संशोधन किया गया। इन साजिशों का पर्दाफाश होने और देश के प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में लेखों आदि के प्रकाशन के बाद भाजपा के इन टुकड़ों द्वारा कलमधसीटों द्वारा गाली-गलौज-विलाप शुरू हुआ था और तथ्यों को तोड़-मरोड़कर झूट का महल खड़ा किया गया था—प्रगतिशील जनपक्षधर, धर्मनिरपेक्ष लेखकों पर खुला हमला बोल दिया गया था।

भाजपा सरकार ने दोबारा सत्तासीन होते ही अपनी सांस्कृतिक मुहिम को और तेज करते हुए 'भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद' और 'भारतीय समाज विज्ञान अनुसंधान परिषद' (आई.सी.एस.आरटी.) के अध्यक्ष पद पर ऐसे महानुभावों की नियुक्ति कर दी जो 'हिन्दुत्व बनाम राष्ट्रीयता' के आजमाये हुए योद्धा थे। अपने पिछले काल में मानव संसाधन विकास मंत्री मुरली मनोहर श्याम जोशी भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद में वैसे इतिहासकारों को भर ही चुके हैं जिनमें पुराणों और मिथकों को 'इतिहास' बनाकर पेश करने की 'प्रतिभा' है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यूजीसी) के अध्यक्ष पद पर डा. हरि गौतम की विवादास्पद नियुक्ति के बाद आई.सी.एच.आर. के अध्यक्ष पद पर बी.आर. ग्रोवर की नियुक्ति और आई.सी.एस.एस.आर. के अध्यक्ष पद पर एम.एल. सौंधी की नियुक्ति सरकार की असली मंशा को स्पष्ट कर देती है। एक प्रमुख अनुसंधान परिषद के अध्यक्ष बने ग्रोवर खुद पीएच.डी. तक नहीं हैं। हां, बाबरी मस्जिद के मुद्दे पर वे संघ समर्थक जरूर बन चुके हैं। जबकि आर.एस.एस. काडर और जनसंघ के टिकट पर सांसद रह चुके सौंधी विभाजन पर अपनी पुस्तक से "चर्चित" रह चुके हैं।

इन नियुक्तियों के बाद 'भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद' की महत्वपूर्ण परियोजना भारतीय स्वाधीनता संग्राम के इतिहास के दस्तावेजों से संबंधित श्रृंखला (ट्रावाइस फ्रीडम) के प्रकाशनाधीन दो खण्डों को 'पुनर्समीक्षा' के लिए रोक दिया गया। उल्लेखनीय है कि आई.सी.एच.आर. ने 1973-74 सत्र के दौरान यह तय किया था कि भारत की आजादी की लड़ाई के आखिरी दस वर्षों (1937-47) से संबंधित दस्तावेजों को वह दस शारों में संकलित और प्रकाशित करेगी। इस श्रृंखला के तहत पार्थसारथी गुप्त के संपादन में छापे वाली पुस्तक प्रकाशित होकर वितरित हो चुकी है जबकि वासुदेव चट्टर्जी के संपादन में प्रकाशित पुस्तक छपने के बावजूद वितरित नहीं हुई है। जिन दो खण्डों को प्रकाशन के पहले ही रोक दिया गया है, उसके सम्पादक प्रसिद्ध इतिहासकार सुमित सरकार और के.एन. पणिकर हैं।

इसके साथ ही, जिस एक अन्य महत्वपूर्ण संस्थान पर संघ परिवार ने हमला बोला है वह है 'राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद' (एन.सी.ई.आरटी.)। यह संस्थान न केवल देश भर के केन्द्रीय विद्यालयों के लिए पाठ्यपुस्तकों तैयार करता है, बल्कि राज्य सरकारों के तहत चलने वाले विद्यालयों के लिए भी पाठ्यक्रम तैयार करता है। अब मानव संसाधन विकास मंत्रालय पाठ्यक्रमों के भगावाकरण की मुहिम में जुट गया है और एन.सी.ई.आरटी. की पाठ्यपुस्तकों का संशोधन-पुनर्लेखन करवा रहा है।

यहीं यह भी उल्लेखनीय है कि अक्टूबर 1998 में राज्यों के शिक्षा मंत्रियों के सम्मेलन में, उच्च शिक्षा और माध्यमिक-प्राथमिक शिक्षा के "राष्ट्रीयकरण" "भारतीयकरण" और

“आध्यात्मिककरण” के नाम पर केन्द्रीय मानव संसाधन मंत्री मुरली मनोहर जोशी ने अपना एजेण्डा थोपना चाहा था जो अन्य दलों के शिक्षामूर्तियों के विरोध के कारण सफल नहीं हो सका। संघ के शिक्षा प्रकोष्ठ विद्या भारती के ‘विशेषज्ञों’ द्वारा की गयी इन सिफारिशों में कहा गया था कि “प्राथमिक से उच्चतम स्तर तक के पाठ्यक्रमों को भारतीय, राष्ट्रवादी एवं आध्यात्मिक बनाया जाये।” वह चाहते थे कि संघ परिवार की अवधारणावाली संस्कृति और हिन्दुत्व को पाठ्यक्रम का अभिन्न और अनिवार्य अंग बनाया जाये। जाहिर है कि एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा प्रकाशित पुस्तकों के संशोधन-पुनर्लेखन की कोशिश उनकी इसी इच्छा का नतीजा है। यह अनायास ही नहीं हुआ था कि केन्द्रीय विद्यालयों के राजनीति विज्ञान की एक पाठ्यपुस्तक के नुनर्मुद्रण के दौरान ‘मार्क्सवाद’ शीर्षक अध्याय ही छूट गया।

यूं तो इतिहास को विकृत करने की साजिशें पूंजीवादी सत्ताधारियों द्वारा लगातार चलती रही हैं। लेकिन, गतिरोध के वर्तमान दौर में इन कट्टरपंथी नवफासिस्टों ने अतर्कपरक, अवैज्ञानिक विचारों के प्रसार के लिए इतिहास के ‘पुनर्लेखन’ पर जोर देना शुरू किया है। जैसे-जैसे संघ-विहिप-भाजपा कंबाइन की राजनीतिक ताकत बढ़ती गयी इसने प्रगतिशील जनपक्षधर संस्थानों में घुसपैठ शुरू कर दी। केन्द्र सरकार के स्तर पर उसे ऐसा करने का पहला मौका 1977 में जनता पार्टी की सरकार के दौरान मिला था। उस वक्त सरकार में शामिल भाजपा (तत्कालीन भारतीय जनसंघ) घटक ने पाठ्यक्रमों पर हमला बोला था। अपना पहला निशाना उसने ‘इतिहास’ को बनाया। उस वक्त उसने ‘राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद’ से प्रकाशित इतिहास की पुस्तकों के ‘पारंपरिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों’ से अलग-थलग होने का हांगामा मचाते हुए इन्हें पाठ्यक्रम से निकालने की मांग की थी। सभी पुस्तकों तो नहीं लेकिन प्रसिद्ध इतिहासकार रामशरण शर्मा की पुस्तक ‘प्राचीन भारत’ को हटाने में वह कामयाब भी रहा था। (बाद में कांग्रेसी सरकार को इसे वापस लेना पड़ा था।) यही वह वक्त है जब तत्कालीन सूचना एवं प्रसारण मंत्री लालकृष्ण आडवाणी ने मीडिया में संघ पोषितों को घुसाकर जगह-जगह ‘सेट’ कर दिया था। तब से लेकर आज तक भाजपा ने मीडिया में व्यापक स्तर पर संघी घुसपैठ की कोई कोशिश हाथ से निकलने नहीं दी। यहां तक कि संघी भोंपू ‘पांचजन्य’ पर और

(शेष पृष्ठ 25 पर)

‘संस्कृति के ठेकेदारों’ के बढ़ते फासिस्ट हमले

विजयशंकर तिवारी

भारतीय संस्कृति के स्वयंभू रक्षकों ने कानून, संविधान, न्यायपालिका—सभी को ठेंगे पर रखते हुए संस्कृति के क्षेत्र में गुण्डागर्दी का प्रदर्शन तेज कर दिया है। इन “हिन्दुत्वावादियों” के हौसले बाबरी मस्जिद के ध्वंस के बाद से, विशेषतया भाजपा के सत्ता में आने के बाद लगातार बुलन्द होते गये हैं।

संघ कबीले (राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और उसकी छत्रछाया में चलने वाले तमाम संगठन) द्वारा फिल्म ‘फायर’ के बाद दीपा मेहता की नई फिल्म ‘वाटर’ की शूटिंग रोकने के लिए वाराणसी में जबर्दस्त तोड़-फोड़ और हुड़दंग मचाया गया। हालांकि फिल्म की पटकथा को सूचना और प्रसारण मंत्रालय द्वारा भी स्वीकृति मिल गयी थी और उत्तर प्रदेश सरकार ने भी शूटिंग की इजाजत दे दी थी। इजाजत भाजपा सरकारों ने दी थी और बावेला मचाया संघ के अन्य मुखौटों—विश्व हिन्दू परिषद, बजरंग दल, जनवापी मुक्ति परिषद, संस्कार भारती ने।

‘वाटर’ के बाद संघ कबीले का निशाना बने उत्तर प्रदेश में संत वेलेंटाइन। ‘वेलेंटाइन डे’ (14 फरवरी) को प्रदेश भर में प्रेमी युगलों की पिटाई हुई। कहीं इन्हें मुर्गा बना दिया गया। तो कहीं संस्कृति के ठेकेदारों ने लड़कों से लड़कियों के पैर धुलवाये, राखियां बंधवाई। रेस्टोरेंट, फूल की दुकानें, ग्रीटिंग कार्ड सेंटरों पर तोड़-फोड़ की, प्रेमी जोड़ों को अपमानित किया। ‘संस्कृति रक्षा’ के लिए दहशत फैलाने का यह ठेका ‘अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद’ ने उठा रखा था। यही नहीं, आगारा कालेज के प्राचार्य और प्राक्टोरियल बोर्ड के सदस्य कालेज के गेट पर सुबह से ही जमा होकर छात्र-छात्राओं के बैग की तलाशी ले रहे थे और जिनके पास से गुलाब का फूल या ग्रीटिंग कार्ड बरामद हो जाता उनके परिचय पत्र ही जब्त कर ले रहे थे।

इसके साथ ही विद्यार्थी परिषद ने जींस पहनने वाली छात्राओं पर हमला बोलकर एक नया आतंक राज्य कायम करने की भी कुचेष्य की थी जिसका छात्राओं द्वारा उग्र प्रतिवाद करने के कारण इस मामले में सरकार को हस्तक्षेप

करना पड़ा था। ये तो महज चन्द बानगियां हैं। महज पिछले एक वर्ष की घटनाओं पर ही निगाह दौड़ायें तो इन तथाकथित संस्कृति रक्षकों की ध्वंसात्मक कार्रवाइयों का पूरा चिट्ठा तैयार हो जायेगा। उन्होंने पुणे में संत तुकाराम के जीवन पर मंचित नाटक के विरोध में हांगामा किया, जम्मू के निकट अखनूर में कबीर पर्यायों पर आक्रमण किया तथा कबीर की साखियों को जलाया, कर्नाटक में टीपू सुल्तान को ‘साम्प्रदायिक’ करार देते हुए उनकी 200वीं जयंती का कार्यक्रम नहीं होने दिया। मुंबई में मराठी साहित्य सम्मेलन पर बाल ठाकरे ने प्रहार किया तो मुजफ्फरनगर में भारत-पाक मुशायरे के संयोजक के घर पर हमला बोला गया। दिल्ली के जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में हुए भारत-पाक मुशायरे में उन्होंने बवाल किया पर वहां छात्रों ने उनकी पिटाई कर दी।

बंगलूरु में साम्प्रदायिकता के खिलाफ नाटक कर रहे ‘समुदाय’ नामक थियेटर ग्रुप के रंगकर्मियों के साथ मारपीट हुई तो लखनऊ में ‘सहमत’ के कार्यकर्ताओं पर नुक़द नाटक के दौरान हमला बोला गया और जबलपुर में उदयप्रकाश की चर्चित कहानी ‘और अंत में प्रार्थना’ के नाट्य मंचन को तोड़-फोड़ करके बन्द करवा दिया गया। प्रसिद्ध फिल्म अभिनेता दिलीप कुमार के पाकिस्तानी खिलाफ ‘निशान-ए-इमित्याज’ के खिलाफ बवाल मचाया गया तो मकबूल फिदा हुसैन की पैंटिंग जलाने और ‘फायर’ फिल्म दिखाने वाले सिनेमाघरों में आगजनी जैसी अनगिनत घटनाओं की पूरी एक फैफरिस्त है। हालात यह है कि अब आप कोई भी नाटक तभी कर सकते हैं जब उसकी पटकथा दिखा ली जाये और उनकी स्वीकृति ले ली जाये।

संस्कृति के इन पहरओं के हौसले आज इतने बुलन्द हैं कि वे भगतसिंह सरीखे क्रान्तिकारियों पर भी हमला करने से बाज नहीं आते। पिछले वर्ष पिलानी (राजस्थान) में इन तत्वों ने शहीद भगतसिंह की प्रतिमा को क्षतिग्रस्त कर दिया क्योंकि वहां के कुछ जनवादी संगठन भगतसिंह के धर्म निरपेक्ष विचारों को प्रचारित कर रहे थे।

(शेष पृष्ठ 25 पर)

जोशी, बाजपेयी और नायडू को बी.एच.यू. द्वारा मानद उपाधियां कुर्सी बचाने की कुलपति की कोशिश और शिक्षा में संघी घुसपैठ की मुहिम का बदबूदार मेल

कृष्णगोविन्द सिंह

अभी हाल ही में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय ने मुरली मनोहर जोशी, अटल बिहारी बाजपेयी और चन्द्र बाबू नायडू को मानद डाक्टर उपाधियां दीं। अचानक हिन्दुत्व के इन महारथियों को मानद डिग्रियां बांटने का विचार कुलपति महोदय को कहां से आया? और किन उपलब्धियों के एवज में ये डिग्रियां बांटी गयीं?

दरअसल, अपनी डगमगाती कुर्सी को संभाले रखने के लिए कुलपति एस.बाई सिंहाद्रि ऐसे लोगों को मानद उपाधियों की रेवड़ियां बांट रहे हैं जो उनकी कुर्सी को बचाने में उनकी मदद करें। मुरली मनोहर जोशी को मानद डाक्टर आफ साइंस की उपाधि देने के पीछे यह कारण बताये गये हैं— ‘डा. जोशी श्री राम की

जन्मभूमि में महान मंदिर के निर्माण हेतु सतत सक्रिय रहे हैं, जिसका हमारी धार्मिक परम्पराओं और गरिमा के सामाजिक प्रतीकों के सन्दर्भ में परमोच्च महत्वा का स्थान है और जो प्रभावशाली मानवीय और अति मानवीय भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है।’ इसके अलावा गौरक्षा आनंदोलन में भाग लेने और अल कबीर बूढ़खाने को बन्द कराने के लिए सत्याग्रह में भाग लेने को भी कारणों की सूची में जोड़ा गया है। बी.एच.यू. के बुद्धिजीवियों, अध्यापकों और छात्रों ने कुलपति के निर्णय का भारी विरोध किया।

जोशी के बाद बारी आयी प्रधानमंत्री अटलबिहारी बाजपेयी और आंश्च प्रदेश के मुख्यमंत्री चंद्रबाबू नायडू की। बाजपेयी के एल.एल.डी. और नायडू की डी.लिट् की डिग्रियां दी गयीं।

मानद उपाधियों की रेवड़ियों के बंटने का सिलसिला यहीं नहीं थम जाता। विश्वविद्यालय का ‘विजिटर’ राष्ट्रपति होता है सो, राष्ट्रपति के सचिव गोपाल गांधी को मानद उपाधि दी गई। बी.एच.यू. में मानवाधिकार उल्लंघन के आधा दर्जन मामले मानवाधिकार आयोग में चल रहे हैं सो मानवाधिकार आयोग के अध्यक्ष न्यायमूर्ति जे.एस.वर्मा को मानद एलएल.डी. दे दी गयी। क्या आपने सुना है कि किसी विश्वविद्यालय ने अपने ही कार्य परिषद के सदस्य को मानद उपाधि दी हो? अगर नहीं तो लीजिए सुनिए—बी.एच.यू. के एकजीक्यूटिव कौसिल के सदस्य प्रो. देवेन्द्र शर्मा को भी बी.एच.यू. से मानद उपाधि मिली है।

असल में दिल्ली में विपक्षी दलों से जुड़े कुछ पूर्व छात्र नेताओं और कुछेक सांसदों ने जो परिस्थितियां तैयार कर दीं हैं उससे प्रो. सिंहाद्रि स्वयं को असुरक्षित अनुभव कर रहे हैं। वे राजनीतिज्ञों और राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण पदों पर आसीन व्यक्तियों को उपाधियां देकर अपनी कुर्सी बचाने की कोशिश कर रहे हैं। पूरे परिसर में जनवादी शिक्षकों, बुद्धिजीवियों और छात्रों में उनके विरुद्ध जबरदस्त असंतोष और आक्रोश व्याप्त है। बी.एच.यू. के एक शिक्षक बी.एस. कटट के लापता होने के मामले में भी कुलपति की भूमिका चर्चा का विषय बनी हुई है। प्रो. कटट ने कुलपति की निरंकुशता,

भगवा पाद्यपुस्तकों की एक बानरी

संघ कबीले ने शिक्षा जगत में तथ्यों के साथ छेड़खानी करते हुए जिस प्रकार तोड़-फोड़ मचायी है उसका उदाहरण उनके शिक्षा प्रकोष्ठ द्वारा तैयार की गई तमाम पाद्यपुस्तकों में मिल जायेगा। महज कुछ बानियों ही उनके उद्देश्यों का, शिक्षा की उनकी अवधारणा का खुलासा करने के लिए काफी हैं।

उत्तरप्रदेश में जब पहली बार भाजपा सरकार गठित हुई तो उनके निर्देशन में छपी इतिहास की एक पाद्यपुस्तक में ‘प्रामाणिक’ तौर पर यहां तक लिखा गया कि “बाबर के स्थानीय अधिकारी मीर बाकी ने अयोध्या में मन्दिर तोड़कर प्राप्त स्थान पर एक मस्जिद बनायी। यद्यपि यह इमारत विवादास्पद है पर हिन्दू जनता इसे मन्दिर मानती है।”

संघ कबीले के शिक्षा प्रकोष्ठ विद्या भारती द्वारा संचालित स्कूलों और भाजपा शासित सरकारी स्कूलों की पाद्यपुस्तकों पर गैर करें:

भारत की ‘आजादी की लड़ाई का इतिहास’ बताते हुए एक पाद्यपुस्तक में कहा गया है, “सैकड़ों बर्बर राक्षसों ने हमारे देश की ओर ललचाई निगाहों से देखा है। अनगिनत लुटेरे आक्रमणकारी अपनी विशाल सेना के साथ यहां आये। कुछ ने हिन्दू धर्म को समाप्त करना चाहा पर वे स्वयं ही समाप्त हो गये और फेंक दिये गये। इसके बारे वैसे आक्रमणकारी आये जिनके एक हाथ में तलवार थी दूसरे में कुरान। असंख्य हिन्दुओं को तलवार के जोर से मुसलमान बनाया गया। आजादी की यह लड़ाई एक धर्मयुद्ध बन गई। असंख्य लोगों ने धर्म के लिए अपनी कुर्बानी दी। पर हम अपने से अलग हुए भाइयों को पुनः हिन्दू धर्म में वापस न ला पाये।”

एक अन्य पाद्यपुस्तक कहती है :

“मुहम्मद गोरी ने लाखों लोगों का कल्पेआम किया। उसने विश्वनाथ मंदिर और भगवान कृष्ण के जन्म स्थान को मस्जिद में

तब्दील कर दिया।” एक अन्य जगह लिखा गया है : “बाल विवाह, जौहर, सती प्रथा, पर्दा, जादू-टीना, और अंधविश्वास—ये सब मुसलमानों के डर के कारण थे।

समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और नैतिक शिक्षा की पाद्यपुस्तकों में इस तरह के नमूने जगह-जगह देखने को मिलते हैं : “सती एक राजपूत परम्परा है जिस पर हमें गर्व होना चाहिए।” “आरक्षण को सामाजिक समानता के नाम पर उचित नहीं ठहराया जा सकता। आरक्षण ने राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता को सर्वाधिक क्षति पहुंचाई है।” “बाल विवाह युवाओं में नैतिक पतन को रोकता है और उन्हें यौन अपराधों की ओर जाने नहीं देता।” “किसी जाति के लोग केवल अपनी ही जाति में शादी करते हैं। इससे उनके रक्त की शुद्धता बनी रहती है एवं उनके रक्त में दूसरी जाति के रक्त की अशुद्धियां नहीं आ पाती हैं।”

विश्वविद्यालय में आधिक अनियमितता और अव्यवस्था के खिलाफ आवाज उठाई थी। प्रो. कट्ट की पत्नी ने इस घटना के पीछे प्रशासन के हाथ होने का शक जताया है। इन सारी परिस्थितियों से, जो उनके खिलाफ जा रही हैं, निपटने के लिए ही कुलपति महोदय विश्वविद्यालय के कार्य परिषद के सदस्यों से लेकर राजनीतिज्ञों, और विनिटर के सचिव तक पर मानद उपाधियों की बारिश कर रहे हैं।

अपना अस्तित्व बचाने की कुलपति महोदय की इस मजबूरी और अकादमिक संस्थानों में भगवा भुसपैठ की भाजपाई मुहिम के मेल से आज बी.एच.यू. का शैक्षणिक वातावरण बेहद घुटनभरा हो चुका है। छात्रों-शिक्षकों-कर्मचारियों में प्रशासन की निरंकुशशाही का आतंक जमाने की नित

नयी-नयी कोशिशें होती रहती हैं। छात्र संघ निलम्बित किया जा चुका है और अधिकांश छात्र नेताओं का निष्कासन हो चुका है। आज परिसर में आम छात्रों की कोई मजबूत संगठित आवाज मौजूद नहीं है, नतीजतन आम छात्र प्रशासन की कारगुजारियों का मूकदर्शक बना हुआ है।

विश्वविद्यालय प्रशासन के तानाशाही रखैये का विरोध करने वाले चुनावी छात्र नेता और पूँजीवादी चुनावी पार्टियों से जुड़े हुए छात्र संगठन अपनी अवसरवादिता के कारण आम छात्रों में विश्वास खो चुके हैं, इसलिए उनके संघर्षों में आम छात्रों की शिरकत लगभग नगण्य है। घोर अवसरवादिता और सुविधापरस्ती की शिकार शिक्षक राजनीति भी आज नखदन्त हीन हो चुकी है। कर्मचारी राजनीति की भी यही दशा

है। इसलिए प्रशासन को कोई प्रभावी चुनावी नहीं मिल रही है। इस परिस्थिति में, निष्काप्तक होकर वह तमाम छात्र-शिक्षक- कर्मचारी विरोधी कदमों को लागू करता जा रहा है। हर मुमकिन रास्ते से विश्वविद्यालय में संघी भुसपैठ लगातार जारी है।

परिसर में व्याप्त जड़ता और विकल्पहीनता की इस विकट स्थिति को तोड़ने के लिए संवेदनशील एवं बहादुर छात्रों की साहसिक एवं सजृनात्मक पहलकदमी की जरूरत है। जब तक यह पहलकदमी नहीं होती हालत बदतर ही होते जायेंगे। यह पहलकदमी कब होगी इसके बारे में शायद ठीक-ठीक बताना सम्भव न हो लेकिन देर-सबेर यह होगी जरूर, क्योंकि जहां दमन होता है, प्रतिरोध के स्वर भी वहां मुखरित होते हैं। ●

सामाजिक-सांस्कृतिक ताने-बाने को साम्प्रदायिक रंग में रंगने की कुचेष्टा एं

(पृष्ठ 23 का शेष)

उसके अनुषांगिक छात्र संगठन अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद के पचास वर्ष पूरे होने पर दूरदर्शन से विशेष कार्यक्रम तक प्रसारित करवाये।

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय से ही फासीवाद के खिलाफ संघर्षरत और एक लम्बी गैरवशाली परम्परा वाले 'भारतीय इतिहास कांग्रेस' में भी संघ कबीला जब-तब सेंध मारने की असफल कोशिश करता रहा है। 1989 में गोरखपुर में आयोजित इतिहास कांग्रेस पर कट्टरपथियों द्वारा कब्जा जमाने की जापाक कोशिशें तथा 1991 में उन्नैन कांग्रेस को मध्यप्रदेश की तत्कालीन भाजपा सरकार द्वारा असफल करने की साजिशों को इसी रोशनी में देखा जा सकता है। बाबरी मस्जिद/रामजन्म भूमि विवाद को "साक्ष्यों" से परिपूर्ण करने और इतिहास के लिए "आस्था का प्रश्न" प्रधान बना देने की गरज से 'भारतीय इतिहास और संस्कृति सोसायटी' का अस्सी के दशक में संघी इतिहासकारों द्वारा पुर्णगठन एवं संघ पोषित 'इतिहास संशोधक मण्डल' की स्थापना जैसे ढेरों प्रयास इन कट्टरपथियों द्वारा लगातार जारी हैं। इस दिशा में अपने ताजा प्रयासों के तहत भारतीय पुरातात्त्विक सर्वेक्षण को भी संघ परिवार के 'पुरातत्वविदों' ने अपने कब्जे में ले लिया है और पुरातात्त्विक उत्खनन एवं सर्वेक्षण की स्थापित वैज्ञानिक प्रक्रियाओं को ठेंगा दिखाते हुए अपनी विशिष्ट "इतिहास-दृष्टि" से उत्खनन एवं सर्वेक्षण में जुट गये हैं।

यह तथ्य भी अब सर्वविदित है कि 1990

में उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान और हिमाचल प्रदेश में भाजपा सरकार बनने के बाद पाठ्यक्रमों में कितने बड़े पैमाने पर फेरबदल किए गया था! भाजपा शासित इन राज्यों की पाठ्यपुस्तकों में पौराणिक विश्वासों को 'तथ्यात्मक इतिहास' के रूप में शामिल किया गया था। इन्हीं प्रक्रियाओं के अगले क्रम में कई विश्वविद्यालयों में संघ काडर के लोगों की भरती हुई और अपने कुलपति बैठाये गये। 'वन्देमातरम' को लेकर विद शुरू करने के पीछे की भी इनकी कुचेष्टा स्पष्ट है। उत्तर प्रदेश में स्कूलों में सरस्वती के चित्र को सामने रखकर प्रार्थना करना अनिवार्य बनाने के प्रश्न पर उठे विवाद और आपसी अन्तरविरोध के कारण तत्कालीन शिक्षा मंत्री के इस्तीफे की घटना किसी से छिपी नहीं है।

इतिहास को सिं के बल खड़ा करने का जो कृतिस्त प्रयास विगत ढेढ़ दशक से जारी है, आज वह एक खतरनाक मुकाम पर पहुंच गया है। सत्ता के शीर्ष पर पहुंचे पुरातनपर्थियों द्वारा समाज को एक बार फिर इतिहासविहीन युग की ओर ढकेला जा रहा है। भाजपा सरकार देश के सामाजिक- सांस्कृतिक ताने-बाने को हिन्दू फासिस्ट साम्प्रदायिक रंग में रंगने के हर अवसर का, हर माध्यम का उपयोग बखूबी कर रही है। कहने की जरूरत नहीं कि इनकी छात्रों का समाज पर जो प्रभाव पड़ा है, वह इनके सत्ता में न रहने पर भी फासिस्ट को खाद-पानी देता रहेगा।

इतिहास के इस कठिन अंधेरे दौर में अंधराष्ट्रवादी फासिस्ट शक्तियों के इन

सांस्कृतिक-वैचारिक हमलों से एक बार फिर जनपक्षधर, इतिहास निर्माता शक्तियों को सचेत होना होगा। इस विषाक्त वृक्ष की टहनियों पर नहीं इसकी जड़ पर प्रहार करना होगा। इतिहास को चाहे धूल और राख की जितनी भी परतों से ढकने को कोशिश की जाये, सच को कभी झुठलाया नहीं जा सकता। सच यही है कि इतिहासद्रोही ऐसी फासिस्ट शक्तियां अतीत में भी कूड़ेदान में फेंकी जा चुकी हैं और भविष्य के लिए भी इनके बास्ते माकूल सजा मुकर्र हो चुकी है, जब जनता का तूफान उठेगा और इनके ताबू में अन्तिम कील ठोक देगा। ●

'संस्कृति के ठेकेदारों' के बढ़ते फासिस्ट हमले

(पृष्ठ 23 का शेष)

चाहे "भारतीय संस्कृति" की "रक्षा" के नाम पर ये विध्वंसक कार्रवाइयां हों या आस्ट्रेलियाई मिशनरी ग्राहम स्टेंस और मथुरा के क्रिस्तियन अध्यापक की नृशंस हत्या की घटना हो अथवा 'आहान कैम्पस टाइम्स' के कार्यालय पर आधी रात में सादी वर्दीधारी पुलिसिया छापामारी की घटना; ये नये दौर के फासीवादी उभार का ही द्योतक है। हिन्दूवादी साम्प्रदायिक फासिस्ट ताकतें अब अपने पूरे रंग में आने लगी हैं। इसलिए, इनका वैचारिक-सांस्कृतिक स्तर पर ही नहीं बल्कि भौतिक शक्ति संगठित कर मुकाबला करने की तैयारियों को तेज कर देना होगा। ●

इतिहास के साथ एक बदसलूकी यह भी

भूपेश कुमार सिंह

कभी गोएबल्स ने न जाने किस पिनक में कह दिया था कि “एक झूठ को सौ बार दुहराओगे तो वह सच लगने लगेगा”। अब गोएबल्स और उसके झूठे सच्चे के खेल को तो परिवर्तनकामी ताकतें इतिहास के कूड़ेदान पर फेंक चुकी हैं, किन्तु अभी भी गोएबल्स के देशी शिष्य इस बात का भरोसा किये हुए हैं कि उनके झूठ न केवल सच लगने लगे हैं वरन् सत्य बन भी जायेंगे।

हिन्दुत्ववादी संगठनों का मुख्यपत्र ‘पांचजन्य’ अपने स्तम्भ ‘संस्कृति सत्य’ (10-1-99) में सड़े-गले मूल्यों को वरेण्य सिद्ध करने के प्रयास में तमाम श्रेष्ठ क्रान्तिकारियों और शहीदों के चरित्र को विद्रूप ढंग से प्रस्तुत करने पर उतारू है। इस लेख के लेखक, साहित्यिक रणनीति सेना के सेनानी वचनेश त्रिपाठी ‘साहित्येन्दु’ तमाम उपलब्ध साहित्य की अनदेखी करते हुए तमाम ज्ञात तथ्यों का कुछ इस प्रकार अनुसंधान करते हैं कि अनुसंधान का पात्र उनके लिए सुविधाजनक नायक के सांचे में ढल जाता है।

पांचजन्य के 10 जनवरी, 1999 के अंक के नवें पृष्ठ पर प्रकाशित स्तम्भ—जिसका नाम ही ‘संस्कृति सत्य’ है—उसमें राजगुरु को पुनरुत्थानवादी सिद्ध करने मात्र के लिए तमाम साहित्यिक उलटफेर किये गये हैं। दरअसल चन्द्रशेखर आजाद, भगतसिंह, राजगुरु, बटुकेश्वर दत्त सरीखे क्रान्तिकारियों को उनकी राजनीति से काटकर, जीवन्त मूल्यों वाली संस्कृति नहीं, वरन् देवालय में स्थापित कर पूजा करने की संस्कृति में समेटने का प्रयास खुद अपने आप में एक बौद्धिक बैईमानी है। आत्मकेन्द्रित, स्वार्थलोलुप तथा अदूरवर्द्धा राजनीतिज्ञ अपने क्षुद्र स्वार्थों के लिए प्रायः क्रान्तिकारियों को उनकी राजनीति से काटकर उनका भाववादी प्रस्तुतीकरण करते रहते हैं। किन्तु किसी भी किस्म के साहित्यिक से ऐसे गहिरत प्रयास की अपेक्षा नहीं की जाती है। “साहित्येन्दु” का ‘ऐतिहासिक सत्य’ है कि “आजाद के नेतृत्व में जब भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव अंग्रेज पुलिस उपाधीक्षक सांडस को गोली मारने गये तो जयगोपाल को संकेत न करते देखकर और यह देखकर कि साण्डर्स मोटर साइकिल स्टार्ट करके चल देना चाहता है उस पर पहली गोली

राजगुरु ने चलाई थी।” उनके अनुसार राजगुरु कहते थे कि “साण्डर्स तो मेरी एक ही गोली से खत्म हो गया, भगतसिंह ने पांच गोलियां बेकार ही खर्च कीं” आगे वचनेश त्रिपाठी जी यह भी जोड़ देते हैं—‘बात सच थी।’ हमें लगता है जैसे भगतसिंह ने पांच गोलियां चलाकर संगठन तथा वचनेश त्रिपाठी जी का नुकसान कर दिया हो। वैसे वचनेश जी को चाहिए कि उस नुकसान की भरपाई के लिए दो-चार लठैत या बजरंगदलियों को लेकर भगतसिंह के उत्तराधिकारियों के यहां जा धमकें।

अब तथ्यों के सम्बन्ध निरूपण तथा इतिहास के वैज्ञानिक सत्यापन के लिए हम उसी घटना का भगतसिंह, राजगुरु, आजाद आदि के साथी और सहयोगी शिववर्मा का संस्मरण उद्भूत करेंगे। यहां यह बता देना समीक्षीय होगा कि शिववर्मा न केवल उनके सहयोगी थे वरन् साण्डर्स वध की योजना निर्माण (जो मूलतः स्काट वध की योजना थी) में बराबरी के भागीदार थे। शिववर्मा (संस्मृतियां, पृ. 38) लिखते हैं—

“इस काम के लिए साथियों ने कई दिन पहले से पुलिस दफ्तर के सामने चक्कर लगाना आरम्भ कर दिया था। जगह का निरीक्षण भी पहले से ही कर लिया गया था। अन्त में 17 दिसम्बर 1928 को साण्डर्स काबू में आ गया। पुलिस दफ्तर से मोटर साइकिल पर निकलते समय स्काट पर गोली चलाई जाये यह पहले से ही तय था। भगतसिंह और राजगुरु पुलिस दफ्तर के फाटक के सामने जगह हट कर खड़े थे। कुछ दूर हटकर जयगोपाल साइकिल लिये ऐसे खड़ा था मानो उसमें कुछ खराबी आ गई हो और वह उसे ठीक करने के लिए रुक गया हो। भगतसिंह और राजगुरु को जयगोपाल के इशारे पर आगे बढ़ना था। इनसे थोड़ी दूर पर डी.ए.वी. कालेज की चारदीवारी के अन्दर अपना माउजर पिस्तौल लिये आजाद खड़े थे। अपना काम समाप्त कर भगतसिंह और राजगुरु को कालेज का रास्ता पार कर छात्रावास की ओर जाना था। आजाद का काम था पीछा करने वालों का रास्ता रोक कर दोनों साथियों को भागने का अवसर प्रदान करना। साण्डर्स के दफ्तर से बाहर आते ही जयगोपाल का इशारा पाकर राजगुरु ने उसके मस्तक पर गोली चलाई और पहले ही वार में वह मोटर साइकिल समेत

जमीन पर लोटने लगा। किसी प्रकार का शक न रह जाये इसलिए भगतसिंह ने उस पर तीन-चार गोलियां चलाई...” (फुटनोट में लिखा है : “हमारा विचार लाहौर के पुलिस सुपरिटेण्डेण्ट स्काट को मारने का था। जयगोपाल ने गलती से साण्डर्स को ही स्काट समझ कर इशारा कर दिया था। यह तो साण्डर्स की मृत्यु के बाद पता चला कि लालाजी उसी की लाठी से आहत हुए थे।”)

यह हुआ कर्ता का कथन और इस कथन की तथ्यप्रकाती और विश्वसनीयता इसलिए असंदिग्ध है कि साण्डर्स वध के बाद भी शिववर्मा का न केवल राजगुरु बरन् भगतसिंह और आजाद से सम्पर्क बना हुआ था। इसकी विश्वसनीयता इसलिए भी असंदिग्ध है कि इसके लेखक शिववर्मा के यहां जा धमकें। किन्तु शिववर्मा के प्रस्तुतिकरण और वचनेश त्रिपाठी के प्रस्तुतिकरण को साथ रखने पर लगता ही नहीं है कि दोनों एक ही घटना का बयान कर रहे हैं। हमें तो यह लगता है कि शिववर्मा के संस्मरण और वचनेश त्रिपाठी के प्रस्तुतिकरण में उतना ही अन्तर है जितना कि लामेवाला की लड़ाई और जे.पी.दत्ता की फिल्म ‘बार्डर’ में है।

अब राजगुरु के घर परिवार और दीक्षा के सम्बन्ध में—वचनेश त्रिपाठी बताते हैं कि राजगुरु ‘सदैव संस्कृत का ही पक्ष लेकर’ अंग्रेजी का विरोध करते थे। उन्हें संस्कृत की पुस्तक ‘लघु सिद्धान्त कौमुदी’ पूरी तरह रटी हुई थी और वे ‘तर्कतीर्थ’ थे। यही नहीं “17-18 वर्ष शोध कर कुछ अप्रकाशित तथ्य भी ढूँढ़े गये।” अब राजगुरु के साथ चार-पांच वर्षों की संगति के दौरान शिववर्मा जो कुछ जान सके वह इस प्रकार है :

“संस्कृत पाठशाला में प्रवेश तो ले लिया लेकिन फीस का क्या हो? वह कैसे अदा की जाये? भाई के पास से जो रुपया आता था वह खाना, कापी-किताब भर के लिए ही था। गुरु जी को एक नौकर की तलाश थी। उन्होंने राजगुरु को अपने पास रख लिया। काम था खाना बनाना, बर्तन मांजना, कपड़े धोना, ज्ञादू पोंछा करना, बाजार से सामान लाना, गुरु जी के पैर दबाना आदि। इस काम के बदले राजगुरु को मिलता—खाना और बगैर फीस दिये कक्षा में बैठने का अधिकार। धीरे-धीरे पढ़ाई कम और घर का कामकाज अधिक होने लगा—खाना देकर इतना अधिकार तो उनको मिल ही गया था। परिणाम वही हुआ जो होना था—राजगुरु की गुरु जी से अनबन हो गई और उन्होंने पढ़ाई तथा नौकरी दोनों को ठोकर मार

(शेष पृष्ठ 40 पर)

आपातकाल के पच्चीसवें वर्ष पर फासिस्ट भाजपा का एक और तोहफा अब टाड़ा से भी खतरनाक 'पोटा' कानून की बारी

यतीन्द्रनाथ दास राजनीतिक अधिकारों की लड़ाई लड़ते हुए अंग्रेजों की जेल में अनशन के 63वें दिन 13 सितम्बर 1930 को शहीद हो गये थे। 1947 में मिली आजादी के असली चरित्र की एक बानगी यह भी है कि आज उनकी शहादत के 70 वर्ष बाद हिन्दुस्तान के देशी शासक अपनी ही जनता के लिए अंग्रेजों से भी ज्यादा दमनकारी कानून बना रहे हैं।

नमिता

आपातकाल लागू होने के पच्चीस वर्ष बाद सत्ताधारी फासिस्ट भाजपा गठबन्धन द्वारा अब तक का सबसे खतरनाक जनविरोधी आतंकविरोध निरोधक कानून (Prevention of Terrorism Act) 'पोटा' कानून लागू करने की तैयारी की जा चुकी है। तमाम विरोधों और गाढ़ीय मानवाधिकार आयोग तक द्वारा खारिज किये जाने के बावजूद इस संशोधित टाड़ा कानून का लागू होना बस बक्त की बात है। सरकार तमाम विरोध को दरकिनार करके इसे संसद में पेश करने पर आमादा है और वहां विरोध के अब बासी हो चुके नाटक के बाद इसका पारित हो जाना तय है।

निरंकुश, स्वेच्छाचारी भाजपा सरकार की आपातकाल की त्रासदी की पाखंडपूर्ण चर्चा के बीच आतंकवाद से 'निपटने' के नाम पर इस बेहद खतरनाक 'पोटा' कानून लागू करने की मंशा ने एक बार फिर साबित किया है कि असली आतंकवादी तो यह सरकार है। आतंकवाद निरोधक यह कानून ही सबसे बड़ा आतंकवादी है। अर्थतः के लगातार गहराते संकट से उपजे राजनीतिक संकट के परिणामस्वरूप सत्ता के निरंकुश होते जा रहे चरित्र ने एक बार फिर यही प्रमाणित किया है कि आपातकाल के बाद से अधोषित आपातकाल की स्थिति लगातार न केवल बरकरार है बल्कि और खतरनाक रूप में सामने आ रही है।

गौरतलब है कि देश भर में व्यापक जनविरोध के कारण तत्कालीन नरसिंह राव

सरकार को 1995 में 'टाड़ा' कानून वापस लेना पड़ा था। उस बक्त भी भाजपा ने इसे बरकरार रखने की जमकर हिमायत की थी। कांग्रेस ने उस बक्त ही 'क्रिमिनल सेफ्टी बिल' नाम से उसी कानून का नया संस्करण लाने का असफल प्रयास किया था। उसके बाद अलग-अलग राज्यों में प्रयास हुए। तभिलनाहु सरकार ने 'पोटा' नाम का कानून लागू किया तो आंग्रे प्रदेश में भी इसी तर्ज पर कानून लागू करने का प्रयास हुआ। अप्रैल 1999 में 'महाराष्ट्र कंट्रोल ऑफ आर्माइज्ड क्राइम एक्ट' (मोक्का) लागू किया गया।

अब टाड़ा खत्म होने के पांच साल बाद पूंजीवादी इन नये चाकरों ने टाड़ा से भी खतरनाक ऐसा कानून प्रस्तावित किया है जिसमें किसी भी प्रकार के विरोध या असहमति तक को अपराध की संज्ञा दी जा सके। इसमें आपराधिक न्याय प्रणाली में मौजूद बचाव के सभी रस्तों को बंद करने के तमाम प्रावधान किये गये हैं।

प्रस्तावित पोटा कानून के तहत अधियुक्त को बिना किसी आरोप के 30 दिनों तक पुलिस रिमांड पर और छह महीने तक जेल में रखा जा सकता है। जमानत के अधिकार पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। कोर्ट तभी जमानत पर छोड़ सकता है जब उसके पास यह मानने का तर्कसंगत आधार हो कि अधियुक्त दोषी नहीं है। साधारण कानून में यह होता था कि तब तक कोई व्यक्ति निर्दोष माना जाता था जब तक उस पर कोई दोष साबित न हो जाये। लेकिन इस विशेष कानून में पहले दोषी मान लिया जायेगा फिर आरोप साबित किया जायेगा।

खुद को निर्दोष साबित करने की जिम्मेदारी अभियुक्त की होगी। यह सीधे-सीधे नागरिक अधिकारों का हनन ही नहीं बल्कि नागरिक स्वतंत्रता और सम्मान पर सीधी चोट है। इस कानून में अग्रिम जमानत की भी इजाजत नहीं है। इसके पीछे यह तर्क दिया जा रहा है कि इससे तहकीकात में मदद मिलेगी तथा अभियुक्त द्वारा तहकीकात में बाधा डालने की कोशिशों को रोका जा सकेगा।

इस कानून का दूसरा प्रावधान और भी खतरनाक है। इसके तहत पुलिस अफसरों के सामने कबूले गये गुनाह को प्रमाण के रूप में स्वीकार किया गया है। इससे पुलिस को असीमित अधिकार मिल जायेंगे, जिससे उसे हिरासत में ज्यादतियां करने और यातना देकर जबरन गुनाह कबूलवाने की अब और खुली छूट मिल जायेगी।

यदि अपराध स्थल के पास किसी के भी उंगलियों के निशान मिलें या ऐसा प्रतीत हो कि एक व्यक्ति ने ऐसे किसी अपराध को किये जाने में पैसे या किसी अन्य तरीके से मदद की है तो न्यायालय को निर्देश है कि वह ऐसे व्यक्ति को तब तक गुनहगार मानकर चले, जब तक कि वह खुद को बेगुनाह साबित न कर दे।

प्रस्तावित नये कानून के तहत अगर कोई व्यक्ति खून का नमूना, लिखाई का नमूना या उंगलियों के निशान न देना चाहे तो न्यायालय उसे गुनहगार मानेगा और अभियोग पक्ष को किसी तरह के मानकों द्वारा अपना निर्णय साबित करने की बाध्यता नहीं होगी। मृत्युदण्ड तक की सजा वाले अपराधों में भी पुलिस को अपना निर्णय साबित करने के लिए इस बुनियादी मानक तक का पालन करने की जरूरत नहीं है कि दोष किसी "तर्कसंगत शक के बिना सिद्ध है"। अब पुलिस मनमाने ढंग से किसी को भी अपराधी साबित कर सकती है, इसके लिए उसे किसी के भी प्रति जवाबदेह नहीं होना होगा।

इस कानून में अपराध की परिभाषा इन्हीं व्यापक है कि साधारण कानून व साधारण अपराधिक न्याय प्रणाली के सभी अपराध इसमें भी शामिल हो जाते हैं। यह कानून इतना खतरनाक है कि इसके तहत 'अपराध के इशारे' या 'मंशा' तक के आधार पर 'पोटा' लगाया जा सकता है।

आतंकवाद से ज्यादा बेहतर तरीके से निपटने के नाम पर इस कानून द्वारा लोगों को इस कदर लाचार और मजबूर करने की कुत्सित चाल चली जा रही है। इस कानून में गवाहों को धमकियों और डराये जाने से बचाने की आड़ लेकर जिरह के समय गवाहों की पहचान गुप्त रखी जायेगी। इस कारण से मुकदमा बन्द अदालत में भी चल सकता है।

इसके अलावा पुलिस को छह महीने तक आरोप पत्र दखिल करने की जरूरत नहीं है, सबूत जुटाने का काम भी जरूरी नहीं है। तहकीकात में भी चाक-चौबन्द होने की खास जरूरत नहीं है क्योंकि पहचान गुप्त रखने के प्रावधान के चलते पुलिस को अपने पके-पकाये खरीदे हुए गवाहों का इसेमाल करके झूठे केस गढ़ने की छूट होगी।

जेलों में बन्द कर दिये गये निर्दोष लोगों को स्वतंत्र न्यायपालिका के सामने अपना मामला प्रस्तुत करने के लिए महीनों इन्तजार करना पड़ेगा और साथ ही उच्च न्यायालय में अपील पर भी रोक लगा दी गयी है।

यह कानून हमें चेतावनी दे रहा है कि अब किसी भी प्रकार का विरोध या असहमति नाजायज है। यहां तक कि केन्द्र सरकार की किन्हीं गलत नीतियों के विरोध में पर्चे बांटने, रेली निकालने, भाषण देने या जायज हकों की मांग करने पर भी आतंकवादी सवित किया जा सकता है। कोई वकील किसी प्रतिबंधित संगठन के तथाकथित सदस्यों की पैरवी करेगा तो उसकी भी खेत नहीं। कोई पत्रकार किसी प्रतिबंधित संगठन के नेता का साक्षात्कार लेने पर उसका स्रोत बताने के लिए बाध्य है। यहां तक कि अगर आपने किसी ऐसी गोष्टी में भाग लिया है या महज उपस्थित रहे हैं, जिसमें कोई

एक रिपोर्ट के अनुसार पूरे देश में वर्ष 1999 में 384 लोग पुलिस हिरासत में मारे गये, जबकि सदी के आखिरी दशक में पूरे देश में पुलिस हिरासत में मरने वाले लोगों की तादाद 2441 रही।

गृहमंत्रालय की एक सूचना के अनुसार 30 जून 1994 तक टाडा के तहत गिरफ्तार लोगों की संख्या 76000 तक पहुंच गयी थी। उनमें से 25 प्रतिशत मामले पुलिस ने खुद ही खत्म कर दिये क्योंकि वह उनमें आरोप दखिल नहीं कर पाई। जिन मामलों में मुकदमे चले उनमें से केवल 35 प्रतिशत में फैसला हुआ। इनमें से 95 प्रतिशत मुकदमों में अभियुक्त बरी हो गये। इस तरह अंततः गिरफ्तार हुए कुल लोगों में से केवल 1 प्रतिशत को सजा हुई।

वक्ता कश्मीर में जनमत संग्रह कराये जाने के पक्ष में बोल रहा है, तो सिर्फ उपस्थित होने के कारण आप इस कानून की चपेट में आ जायेंगे।

दरअसल आपातकाल के 25 वर्ष बाद आज शासक वर्ग के लिए गम्भीर खतरा नजर आ रहा है। जनविरोधी आर्थिक नीतियों के कारण समाज में बढ़ती तबाही-बर्बादी ने सत्ताधारियों के लिए गम्भीर राजनीतिक संकट पैदा कर दिया है। पूंजीवादी तंत्र की अंधी लूट में लोगों को मिली हुई नौकरियां भी छिनती जा रही हैं, बेरोजगारों की पूरी फौज खड़ी हो चुकी है। शिक्षा-चिकित्सा जैसी बुनियादी सहूलियतें भी अब अमीरों की बोपती बन चुकी हैं। अमीरी-गरीबी की खाई बेहंता बढ़ती गयी है। पूरा समाज आज एक ज्वालामुखी के मुहाने पर खड़ा है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश के पूंजीवादी सत्ताधारियों को 60 के दशक के उत्तरार्द्ध में पहला झटका उस वक्त लगा था जब वे आर्थिक संकट के पहले दुश्चक्र में फंसे थे। इस आर्थिक संकट ने आगे चलकर गम्भीर राजनीतिक संकट पैदा कर दिया। जगह-जगह छात्रों-नौजवानों, मजदूरों-किसानों के जबर्दस्त आन्दोलन फूट पड़े। कांग्रेस से लोगों का मोह भाग हुआ और कई राज्यों में संविध सरकारें गठित हुईं। '74 का छात्र आन्दोलन और रेलवे की सबसे बड़ी हड़ताल इसकी अगली कड़ी थी। बढ़ता राजनीतिक संकट सर्वेधारिक संकट में तब्दील हो गया जिसकी परिणति आपातकाल के रूप में सामने आयी।

पहला झटका था जिसे वे संभाल नहीं सके थे। उस वक्त तक शासक वर्ग भी एकमत नहीं था और उसका एक बड़ा हिस्सा आपातकाल का विरोधी बन गया था। उसके बाद भारतीय शासक वर्ग ने इससे सीख ली। अब वे और माहिर और कुशल हुए हैं। जनता के दमन के मुद्दे पर भी वे एकमत होते चले गये हैं। उन्होंने सबक निकाला कि बिना आपातकाल लगाये "जनतंत्र" का बाना ओढ़कर, खतरनाक काले कानूनों के माध्यम से जनता के न्यायसंगत आन्दोलनों को कैसे कुचला जाये।

इसके साथ ही बुर्जुआ मीडिया भी काफी परिपक्व हुआ है। पूंजीवादी जनतंत्र का असली चरित्र ज्यादा मुखर होकर सामने आया है। यह अनायास ही नहीं है कि क्षेत्रीय से लेकर राष्ट्रीय अखबारों तक सब एक सुर में जनविरोधी नयी नीतियों का समर्थन कर रहे हैं और सत्ताधारी भाजपा के फासीवाद के पक्षधर बन बैठे हैं।

आज हालत यह है कि किसी भी जुलूस को तितर-बितर करना, लाठी चार्ज, आंसू के गोले छोड़ना सामान्य बात बन चुकी है। पुलिस फायरिंग में बेकसूलोगों की मौत और हड़तालों के दौरान पुलिसिया ताण्डव भी अब समाचार पत्रों की सुर्खियों नहीं बन पा रही हैं। अंग्रेजी फौजें भी स्त्रियों पर दमन करने से हिचकिचाती थीं लेकिन आजाद भारत की पुलिस द्वारा घरों में घुसकर स्त्रियों तक को पीटने-बेइन्जत करने की घटनाएं आम बात बन चुकी हैं। उच्चतम न्यायालय के दिशा निर्देशों और मानवाधिकार आयोग के सुझावों का कोई मायने नहीं रह गया है। अपने दामन को साफ रखने के लिए सत्ताधारियों द्वारा निर्मित जन हित याचिका भी अब महज शगूह बनकर रह गया है। पर्यावरण, पैच फिक्सिंग, हवाला जैसे कुछ मुद्दों पर उच्च मध्यवर्ग के लोगों द्वारा दायर जनहित याचिकाओं पर सुनवाई भले ही हो जाये, नगर सुन्दरीकरण के नाम पर आये दिन उजाड़े जा रहे ढेले-खोमचे वालों से लेकर गरीब जनता की तबाही के

यदि जनता की बात करोगे, तुम गद्दार कहाओगे
बम्ब सम्ब की छोड़ो, भाषण दिया तो पकड़े जाओगे
निकला है कानून नया, चुटकी बजते बंध जाओगे
न्याय, अदालत की मत पूछो, सीधे मुक्ति पाओगे।

- शंकर शैलेन्द्र, 1948

एक बौद्धाई बर्बर व्यवस्था

पुलिस अधिकारी किसन बेदी ठीक ही मानती हैं कि बावर्दी पुलिसकर्मी राज्य का सबसे दृष्टिगोचर सक्रिय अंग है। अतः किसी विधि संचालित समाज में पुलिस ही राज्य व्यवस्था के चरित्र को सबसे लाखणिक रूप से प्रस्तुत करती है। अगर पुलिस प्रणाली जन-उत्पीड़क है तब राज्य जन-उत्पीड़क है, अगर पुलिस जन-सेवक है तब राज्य व्यवस्था जन-सेवक है। इस तर्क में अगर पुलिस और राज्य को आपस में अदल-बदल दें तब भी निष्कर्ष वही रहते हैं।

आइये हम इस कसौटी पर भारतीय पुलिस के रंग-ढग और तौर-तरीकों की पड़ताल करते हुए मौजूदा विधि व्यवस्था के चरित्र का आकलन करने का प्रयास करें। अभी कुछ वर्षों पहले पंजाब पुलिस के एक पुलिस अधीक्षक ने उन्हीं कानूनी कार्रवाइयों से डर कर आत्महत्या कर ली थी जिनकी आड़ में तथा जिसकी रक्षा के लिए उन्होंने हजारों लोगों को फर्जी मुठभेड़ों में या यातनाएं देकर मौत के घाट उतार दिया था। इन्हीं अवतार सिंह संधू की आत्महत्या पर पुलिस प्रणाली के 'नायक' कंवरपालसिंह गिल ने शेर उच्चार—“इस नामर्द देश में पैदा मुझे क्यूं कर किया?”

आज उत्तर प्रदेश पुलिस भी कानून की रक्षा के लिए कानूनी प्रावधानों को अपने बूट के नीचे ढाये हुए है। नवम्बर 1999 में मुजफ्फरनगर से अगवा कर लिये गये व्यापारी महेन्द्र प्रकाश मित्तल की रिहाई के लिए पुलिस ने सदिंध अपहर्ता के पुत्र का देहरादून के छावावास से अपहरण कर लिया था जिसका अपराध से कोई नाता नहीं था। पुलिस के इस

कानूनमें की दैनिक जागरण के लखनऊ संस्करण (23-11-99) ने भाँड़ी भड़ती के साथ सराहना भी की थी। किन्तु पुलिस का जबरिया जन सहयोग का यह रवैया कई बार काफी दूर तक चला जाता है। मेरठ की छात्रा स्मिता भाउड़ी अपने एक मित्र के साथ एक छोटी यात्रा पर निकली थी। किन्तु पुलिस के जांबाज पहरओं के प्रबल सहयोग से यह अन्तिम यात्रा बन गई। यह मृत्यु एक उल्लेखनीय घटना हो चुकी है किन्तु कई जगह ऐसी 'जनसेवाओं' का कोई उल्लेख नहीं होता है।

अब तक भारतीय पुलिस अपनी अमानवीय संवेदनशून्यता, अपराधों पर अपने नगण्य नियंत्रण और हिरासत में होने वाली मौतों के लिए ही कुख्यात थी। इधर उसकी उपलब्धियों में नकली मुठभेड़ों का एक तुर्ह और जुड़ा था। किन्तु यह नाकारापन समस्त सीमाएं पार करते हुए आपराधिक दुरभिसंघ में बदल गया है। राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र में एक शीर्ष पुलिस अधिकारी के बेटे से डरी हुई एक लड़की प्रियदर्शनी मट्टू ने पुलिस सहायता की मांग की थी। अतः प्रियदर्शनी को व्यक्तिगत सुरक्षा हेतु पुलिस गारद दी गई। किन्तु अन्ततः प्रियदर्शनी को पुलिस सुरक्षा के बीच ही 23.1.96 को बलात्कार और हत्या का शिकार होना पड़ा। अपराधी था पुलिस के एक ऊंचे अफसर का बेटा। अदालत ने अपने फैसले में कहा कि वह समझती है कि बलात्कार और हत्या अभियुक्त ने की है परंतु पुलिस और सीबीआई ने तफ्तीश ठीक से नहीं की है इसलिए सबूतों के अभाव में उसे छोड़ा जा रहा है।

किन्तु अब हाशिये पर ठेल दिये गये

लोग—गरीब और गंवार लोग—साम्राज्यवादी संस्कृति में पगी पुलिस के प्रति अपनी उकताहट को जाहिर करने लगे हैं। पूर्वी उत्तर प्रदेश के एक स्टेशन—ऑडिहार में पूर्व प्रधानमंत्री के सरकारी तामझाम से खुनस खाये छात्रों ने विशिष्ट सुरक्षा व्यवस्था की बिखिया उधेड़ते हुए उन्हें छिपने पर मजबूर कर दिया। यही नहीं इस आर्थिक रूप से पिछड़े अंचल के सांस्कृतिक और शैक्षणिक रूप से प्रायः पिछड़ जाने वाले छात्रों के आक्रोश की आंच को समूची व्यवस्था ने महसूस किया। बलिया में एक दरोगा ने एक छात्र को 'दुर्घटनावश' मार डाला। इस पर उद्वेलित जनता ने समूचे बलिया जिले को दो-तीन दिनों तक पुलिस से छीन अपने कब्जे में ले लिया था। न केवल सम्बन्धित थाना बल्कि आसपास के कई पुलिस दफ्तर आग के हवाले हो गये। जन-आक्रोश की लपटों ने अन्य सरकारी सम्पत्ति को भी अपनी चपेट में लिया। इस पुलिस उत्पीड़न तथा इसकी स्वयं स्फूर्त तात्कालिक प्रतिक्रिया के बाद सब कुछ सामान्य तो हो गया किन्तु एक प्रश्न अनुत्तरित रह गया—“आखिर पुलिस के रूप में हमारे बीच के लोग ऐसी हैवानी हरकतें क्यों करते हैं?”

दरअसल पुलिस के कार्य-कलाप चाले वे विधि संगत हों या गैरकानूनी हों—वे समाज के सत्ताधारी वर्गों की इच्छा की सामूहिक अभिव्यक्ति होते हैं। अतः आमतौर पर पुलिस का प्रयोग समाज की सामूहिक स्वीकृति—कानून द्वारा संचालित होने के बजाय सत्ताधारी वर्गों की इच्छानुसार समाज को संचालित करने का प्रयास होता है। अतः जब तक समाज और सत्ता की इच्छाओं में समानता होती है तब तक पुलिस का कार्य सुगम होता है। किन्तु मौजूदा दौर में जब समाज और सत्ता के अन्तरविरोधों के साथ-साथ खुद सत्ताधारी वर्गों के अन्तरविरोध भी दिनोंदिन तीखे होते जा रहे हैं उस समय पुलिस बल अत्यन्त तीव्र सामाजिक बलाधारों का शिकार हो रहे हैं। पूर्जीवादी लोकशाही में जन-समर्थन जुटाने तथा बाजार साम्राज्यवाद में थैलीशाहों के लिए सुविधा जुटाने में निहित अन्तरविरोधों का तनाव भी पुलिस बलों को झेलना पड़ता है।

ये सभी निरन्तर बलाधात न केवल पुलिस तंत्र को विवेकहीन कर दे रहे हैं बल्कि नाना शक्ति-संरुलनों की वजह से अकर्मण्य बने पुलिस वालों में जबदस्त व्यक्तित्व के विघटन को और बढ़ावा दे रहे हैं। वस्तुतः यह व्यक्ति विरोधी व्यवस्था है जो पुलिस को कुन्द जहन आत्मकेन्द्रित यंत्र-पशुओं में बदल रही है जो कि अपने आकाओं की प्रशंसा पाने की लालसा में जघन्यतम कानामों को अंजाम दे सकते हैं।

● मुकितबोध मंच, पन्नतनगर

विभाजक रेखा मिट्टी जा रही है, जनवाद की चौहांदी सिमटी जा रही है, पूर्जीवादी संसदीय जनवाद का स्वेच्छाचारी चरित्र ज्यादा साफ होता जा रहा है।

आज शासक वर्गों ने अपना रास्ता तय कर लिया है। अब भगतसिंह के वारिसों को भी अपना रास्ता चुन लेना होगा। मैक्सिसको, कोरिया, थाईलैण्ड, इण्डोनेशिया, ईरान के छात्र—नौजवान अपने-अपने देश के निर्कुश सर्वसत्तावादी शासकों की खतरनाक नीतियों के खिलाफ सड़कों पर उतर रहे हैं। भारत के छात्रों—नौजवानों को भी इन जनविरोधी नीतियों के खिलाफ निर्णयिक संघर्ष में उत्तरा ही पड़ेगा। ●

दुनिया में अतिरिक्त उत्पादन के कारण अर्थिक संकट पैदा हो गया है। हालांकि तीन करोड़ से भी ज्यादा मजदूर भूखे मर रहे हैं पर खाद्यान का अतिरिक्त भंडार एक "वस्तुगत सच्चाई" है। ऐसा न होता तो अमरीका हमें गेहूं उधार नहीं दे पाता और हमें "जबर्दस्त फसल की आपदा" नहीं झेलनी पड़ती।

लेकिन ज्ञान भी अतिरिक्त हो जा सकता है जिसके चलते और भी गंभीर संकट पैदा हो जाता है। कहा जा रहा है कि आज गांवों में शिक्षा का जितना ही विस्तार होगा, देहातों की कंगाली उतनी ही तेजी से होगी। निस्संदेह यह एक जबर्दस्त मानसिक फसल की आपदा है। कपास बेहद सस्ती हो गई है इसलिए अमरीकी अपने यहां कपास के खेतों को ही खत्म कर रहे हैं। इसी तरह चीन को भी ज्ञान का खात्मा कर देना चाहिए। यह पश्चिम से सीखा गया एक बेहतरीन नुस्खा है।

पश्चिमी लोग बड़े काबिल हैं। पांच-छह साल पहले जर्मनी वालों ने शिकायत की कि उनके यहां कालेजों में छात्र-छात्राओं की तादाद बहुत ज्यादा हो गई है और कई राजनीतिज्ञों तथा शिक्षास्थिरों ने युवाओं को यह सलाह देने के लिए खासा शेर-शराबा किया कि उन्हें विश्वविद्यालयों में दाखिला नहीं लेना चाहिए। आज जर्मनी में वे न केवल यह सलाह दे रहे हैं बल्कि ज्ञान को समाप्त करने की प्रक्रिया भी शुरू कर चुके हैं। वे चुन-चुनकर किताबों को जला रहे हैं, लेखकों को अपनी पाण्डुलिपियां निगल जाने का हुक्म दे रहे हैं और विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के समूहों को लेबर कैम्पों में बंद कर रहे हैं—इसे "बेरोजगारी की समस्या के समाधान" के रूप में जाना जाता है। क्या आज चीन में भी यह शिकायत नहीं की जा रही है कि कानून और कला के विषयों में बहुत अधिक विद्यार्थी हो गये हैं? यही नहीं, हमारे यहां तो हाई स्कूल के विद्यार्थी भी बहुत ज्यादा हैं। इसलिए एक "सख्त" परीक्षा प्रणाली को लोहे के झाड़ू की तरह चलाये जाने की जरूरत है—सड़ाक, सड़ाक, सड़ाक!—सभी फालतू युवा बुद्धिजीवियों को बुहार कर "जनसाधारण" के ढेर में गिरा देना चाहिए।



लू शुन के जन्मदिवस (25 सितम्बर) के अवसर पर

अतिरिक्त ज्ञान

अतिरिक्त ज्ञान से संकट कैसे हो सकता है? क्या यह एक तथ्य नहीं है कि करीब नब्बे प्रतिशत चीनी जनता निरक्षर हैं? हां, लेकिन अतिरिक्त ज्ञान भी एक "वस्तुगत सच्चाई" है और इससे पैदा होने वाला संकट भी। जब आपके पास जरूरत से ज्यादा ज्ञान हो जाता है तो आप या तो बहुत ज्यादा कल्पनाशील हो जाते हैं या बहुत ज्यादा नरमदिल। अगर आप बहुत ज्यादा कल्पनाशील होंगे तो आप

बहुत ज्यादा सोचेंगे। अगर आप बहुत ज्यादा नरमदिल होंगे तो आप निर्मम नहीं हो पायेंगे। या तो आप अपना संतुलन खो बैठेंगे या फिर दूसरों के संतुलन के साथ छेड़छाड़ करेंगे, और इसी तरह आपदा आती है। इसलिए ज्ञान को खत्म कर दिया जाना चाहिए।

लेकिन सिर्फ ज्ञान को खत्म करना ही काफी नहीं है। उचित व्यावहारिक शिक्षा भी जरूरी है। पहली जरूरत है एक भाग्यवादी दर्शन—लोगों को खुद को नियति के हाथों में छोड़ देना चाहिए और अगर उनका भाग्य दुख भरा हो तो भी उन्हें संतुष्ट रहना चाहिए। दूसरी जरूरत है मतलबपरस्ती में महारत। हवा का रुख पहचानो और आधुनिक हथियारों की ताकत के बारे में जानो। कम से कम इन दो व्यावहारिक पाठ्यक्रमों को तुरन्त बढ़ावा दिया जाना चाहिए। इन्हें बढ़ावा देने का तरीका बड़ा सीधा-सादा है। पुराने जमाने में भाववाद का विरोध करने वाले एक दार्शनिक का कहना था कि अगर तुम्हें इसमें संदेह है कि आटे के कटोरे का अस्तित्व है या नहीं, तो तुम इसे खा लो और देखो कि तुम संतुष्ट महसूस करते हो या नहीं। इसलिए आज अगर आप लोगों को बिजली के बारे में समझाना चाहते हैं तो आप उन्हें बिजली का झटका देकर देख सकते हैं कि उन्हें चोट लगती है या नहीं। अगर आप उन्हें हवाई जहाजों या ऐसी ही चीजों के कारनामों से प्रभावित करना चाहते हैं तो आप उनके सिरों के ऊपर से हवाई जहाज उड़ा कर बम गिरा सकते हैं, यह देखने के लिए कि वे मरते हैं या नहीं...

इस तरह की व्यावहारिक शिक्षा हो तो अतिरिक्त ज्ञान की समस्या कभी होगी ही नहीं। आमीन!

रचनाकाल : 1933



"

प्रेमचन्द्र जन्मदिवस (31 जुलाई) के अवसर पर

अब क्रान्ति में ही देश का उद्घार है, ऐसी क्रान्ति जो सर्वव्यापक हो, जो जीवन के मिथ्या आदर्शों का, झूठे सिद्धान्तों और परिपाठियों का अन्त कर दे। जो एक नये युग की प्रवर्तक हो, एक नयी सृष्टि खड़ी कर दे, जो मनुष्य को धन और धर्म के आधार पर टिकने वाले राज्य के पंजे से मुक्त कर दे।

('कर्मभूमि' के पात्र अमरकांत का संवाद)

"

ओलम्पिक और भारत

सत्यम वर्मा

पन्द्रह सितम्बर से आस्ट्रेलिया के खूबसूरत सिडनी शहर में 27वें ओलम्पिक खेल शुरू हो रहे हैं। आयोजन, निवेश और मार्केटिंग की दृष्टि से और सबसे बढ़कर सूचना प्रौद्योगिकी के करिश्माई इंतजाम की दृष्टि से यह अब तक का सबसे बड़ा ओलम्पिक होगा। वैसे तो हर अगला ओलम्पिक पहले से ज्यादा बृहद होता ही जा रहा है। यह अलग बात है कि बड़ा होने के पैमाने बदल गये हैं। अब ओलम्पिक की सफलता-असफलता दुनिया भर से जुटने वाले खिलाड़ियों के कारनामों से ज्यादा इसमें खरबों-खरब डालर का निवेश करने वाली बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के नफे-नुकसान से मापी जाती है।

ओलम्पिक खेलों में दुनिया भर के सबसे सुन्दर, बलिष्ठ, धैर्यवान, हुनरमन्द, कलात्मक प्रतिभासम्पन्न, क्षमतावान और साहसी लोग एकत्रित होते हैं। विश्व की युवा-शक्ति का निचोड़, उसका 'क्रीम' एकत्रित होता है। सब एकजुट होकर कला, प्रतिभा, शक्ति, सौन्दर्य, गति, ओज और आवेग के नये-नये कीर्तिमान स्थापित करते हैं, मानवजाति की विजय यात्रा और प्रगति की प्रतीक-भावना को नई ऊँचाइयों तक ले जाते हैं। पूरे पन्द्रह दिनों तक पूरी दुनिया की निगाहें इन पर टिकी रहती हैं।

और इन्हीं निगाहों को अपनी ओर मोड़ने के लिए बहुराष्ट्रीय कम्पनियां सैकड़ों अरब डालर फूंक डालती हैं। इनकी दिलचस्पी न तो खेल में होती है न खिलाड़ी में—इनको मतलब होता है तो सिर्फ अपने उत्पादों की मार्केटिंग से। जूतों, कपड़ों, मोटरबाइक, कारों, टायर, "स्वास्थ्यवर्द्धक" पेय, कोल्ड ड्रिंक्स, सिगरेट, शराब और साबुन-तेल-मंजन के सैकड़ों ब्रांड्स के विज्ञापनों की पन्द्रह दिनों तक 24 घण्टे बमबारी का ऐसा मौका भला कौन कम्पनी छोड़ेगी!

आज के विश्व-पूंजीवादी तंत्र में खेलों पर और खेल आयोजनों के समस्त अन्तरराष्ट्रीय

तंत्रों पर धनी देशों का एकाधिकार पहले से कई गुना ज्यादा मजबूती से कायम हो चुका है। खेलों के नायक आज नई उपभोक्ता संस्कृति के प्रतीक-पुरुष और उपभोक्ता सामग्रियों के प्रचारक के रूप में विश्व-पूंजी के क्रीतदास बनकर रह गये हैं। खेल जो मानवता के इतिहास में श्रम प्रक्रिया और उससे जुड़े सांस्कृतिक क्रियाकलापों के साथ-साथ मनुष्य की नैसर्गिक जरूरत के रूप में अस्तित्व में आये थे, उन्हें साप्राज्यवाद ने विकृतम रूप दे डाला है।

आज जब खिलाड़ी ट्रैक पर कदम रखता है तो सर से पांव तक तमाम कम्पनियों का चलता-फिरता विज्ञापन बना नजर आता है। जो जितना सफल है उस पर विज्ञापनों के अनुबंधों की बौछार उतनी ही ज्यादा। आधुनिक ओलम्पिक खेलों के जन्मदाता पियर कूबर्टिन ने कहा था कि ओलम्पिक में भाग लेना ज्यादा महत्वपूर्ण है, न कि जीतना। लेकिन आज जीतना ही सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण हो गया है—इसलिए नहीं कि इससे कुछ सौ डालर के सोने, चांदी और कांसे के तमगे मिलते हैं। बल्कि इसलिए कि एक जीत करोड़ों डालरों के अनुबंधों के लिए रास्ता खोल देती है। इसीलिए किसी भी तरह जीत हासिल करना सबसे बड़ी बात बन जाता है। इसीलिए प्रतिबन्धित दवाओं का सैकड़ों करोड़ डालर का विश्वव्यापी कारोबार पैदा होता है और इसीलिए दुनिया के बेहतरीन खिलाड़ी खुद को और खेलभावना को लाँचित करने की हद तक गिर जाते हैं। जीत, हर कीमत पर जीत। पूंजीवाद की अंधी होड़ में हारने वाले को कोई नहीं पूछता, उसका नाम और चेहरा किसी को याद नहीं रहता। विजेता का नाम, और उसका चेहरा असंख्य कैमरों में दर्ज हो जाता है—और फिर उस पर चिपकाये जाने लगते हैं जूतों, कपड़ों, ड्रिंक्स, कारों, व्हिस्की, सिगरेट आदि-आदि के विज्ञापन....।

खेल, आज खेल नहीं रह गये हैं एथलेटिक्स हो या टेनिस, क्रिकेट हो या फुटबाल—खेल आज विज्ञापन और मनोरंजन

उद्योग के लिए एक माध्यम भर बनकर रह गये हैं जिसका एकमात्र मकसद है ज्यादा से ज्यादा मुनाफे के इस कारोबार के छोटे-मोटे भागीदार बन जाते हैं। पूंजीवाद ने खेलों की स्वस्थ, परस्पर प्रोत्साहन से भरी प्रतिस्पर्धा को खत्म कर उनमें पूंजी की अंधी, गलाकाटू-टांगघसीटू होड़ भर दी है, दुनिया की जनत की एकजुटता और प्रगति के प्रतीक ओलम्पिक खेलों को उसने मुनाफे के लिए बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की धमा-चौकड़ी का मैदान बना डाला है।

खेलों में सफलता आज सिर्फ शारीरिक क्षमता, कुशलता और प्रतिभा के दम पर नहीं मिल सकती। तमाम तरह की टेक्नालॉजी, वैज्ञानिक प्रशिक्षण, विशेष जूतों-कपड़ों और कम्प्यूटर द्वारा निर्धारित खुराक आदि के बिना जीत हासिल करना एक करिश्मा ही है। इसलिए ओलम्पिक खेलों की पदक तालिका में भी अमीर देशों का ही वर्चस्व होता है। सेवियत संघ और पूर्वी यूरोप के देशों में तथाकथित समाजवादी व्यवस्थाओं के ढहने के पहले ये देश ओलम्पिक में छाये रहते थे। इसका कारण था कि 1956 में पूंजीवाद की पुनर्स्थापना हो जाने के बाद भी इन देशों में क्रान्तियों की देन के रूप में इतना तो था कि आम आबादी के जीवन की बुनियादी जरूरतें पूरी हो जाती थीं, असमानता पश्चिमी देशों से भी कम थी। व्यापक आबादी को खेलकूद आदि में शामिल होने की सहूलियतें और अवसर उपलब्ध थे और उसमें से छनकर सर्वश्रेष्ठ खिलाड़ी अन्तरराष्ट्रीय प्रतियोगिताओं में हिस्सा लेते थे। पश्चिम के समृद्ध देशों में हालांकि असमानता अपेक्षाकृत ज्यादा है, पर वहां भी सबसे नीचे के कुछेक प्रतिशत को छोड़कर शेष आम आबादी के जीवन की जरूरी जरूरतें पूरी हो जाती हैं और उनका भी एक बड़ा हिस्सा खेल-कूद की सुविधाओं का लाभ उठा लेता है। तीसरी दुनिया में पूरी दुनिया की दो तिहाई आबादी बसती है लेकिन इस पूरे हिस्से के केवल वही चन्द देश पदक तालिका में स्थान बना पाते हैं जहां गरीबी-बेरोजगारी-भुखमरी-तबाही-बर्बादी अपेक्षाकृत कम है। एकाध ही देश इस आम नियम के अपवाद हो सकते हैं।

आरत क्यों फिलाडल्फिया है?

आइये, अब जरा भारत की स्थिति पर, विचार किया जाये। दुनिया की आबादी का 1/6 हिस्सा लेकर भी हम पदक तालिका में

कहीं क्राईंटभरत नम्म लोखने खेल स्पॉर्ट्स तेज़हीते हैं हल्देहलोकी कमी मौसारतको कर्वेई एक पदक मिल जाता था पर अब तो वह भी नसीब नहीं होता। आखिर ओलम्पिक खेलों में हमारी यह स्थिति क्यों है? प्रायः सभी खेल प्रेमी और नौजवान इस सच्चाई से परिचित हैं कि खेलों में ऊपर से नीचे तक बैईमानी, भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद और नौकरशाही व्याप्त है। खेल-जगत और पूँजीवादी पत्र-पत्रिकाओं में अकसर ही इसकी चर्चा होती रहती है। खेल-प्रेमी, युवा और शिक्षित वर्ग के लोग इतना ही जानते हैं और इस पर यकीन भी करते हैं।

लेकिन एक सच्चाई, जो इस दुर्दशा का मुख्य कारण है, उसकी कभी भी चर्चा नहीं की जाती। उसे हमेशा ही छिपाया जाता है। हम अपने पाठकों की जानकारी के लिए और उनके सोचने-विचारने के लिए संक्षेप में इसे यहां प्रस्तुत कर रहे हैं।

भारत दुनिया के निर्धनतम देशों में से एक है। अगर बल्गारिया, रोमानिया, क्यूबा, यूनान, पुर्तगाल और अस्ट्रिया जैसे छोटे देश खेलकूद के पदकों की होड़ में भारत से बहुत आगे हैं, तो इसका कारण यह है कि इन देशों में आबादी का लगभग पूरा हिस्सा खेलकूद में शिरकत करता है और लगभग पूरी आबादी से छनकर वहां के योग्यतम लोग ओलम्पिक में पहुंचते हैं। वहां के आम लोगों का जीवन-स्तर भी भारतीय जनता के जीवन-स्तर से बहुत ऊपर है और उनहें स्वास्थ्य-शिक्षा और खेलकूद की जो सुविधाएं हासिल हैं वे हमारे देश में केवल ऊपर के मुट्ठी भर लोगों को ही मिल पाती हैं।

हमारे देश में 56 प्रतिशत लोग आज भी निरक्षर हैं। शेष जनता का बड़ा हिस्सा भी नाममात्र का पढ़ा-लिखा है और जीवन के हर क्षेत्र में आधुनिक तकनीक से सर्वथा अपरिचित है। आज का खेलकूद अधुनातन तकनीक और हुनर की मांग करता है। यहां आबादी के आधे से अधिक लोग भूखे-अधभूखे और नंगे-अधनंगे हैं तथा इंसान की जिन्दगी तक नहीं बसर करते। बाकी बचे लोगों में से भी अधिकांश दुनिया में सामान्य जरूरत कहलाने वाली जरूरतों तक से वंचित हैं। आबादी के इस हिस्से के पास चिकित्सा तो दूर आधुनिक न्यूनतम जरूरतों की चीजें—

दंग के घर और शौचालय तक नहीं होते। ऐसे लोगों से कर्तृ यह उम्मीद नहीं की जा सकती कि वे खेलकूद में रुचि लें।

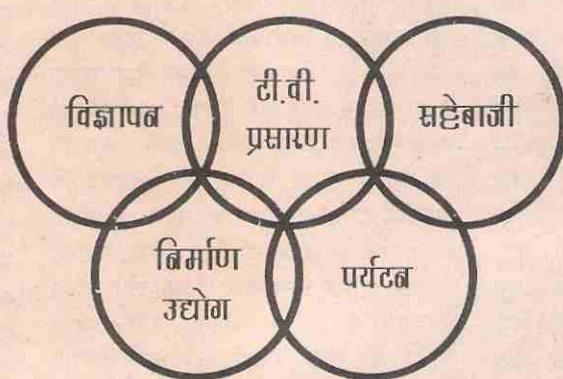
इस तरह पूरे देश की अस्सी फीसदी आबादी के पास आधुनिक खेलकूद का न तो कोई साधन है, न समय और न ही हालत। शेष बीस फीसदी आबादी में से 7-8 प्रतिशत उन मुट्ठी भर थैलीशाहों, नेताओं, नौकरशाहों, ठेकेदारों तथा अनेक प्रकार के काले धंधों वाले एवं अन्य ऐसे ही लोगों का है जो ऐश्वर्य और ऐयाशी का जीवन बिताते हैं। इनके पास साधन तो सभी हैं, पर इनकी जीवन शैली और मानसिक बनावट ऐसी है कि इनमें सामान्य साहस का भी अभाव है, जबकि जरूरत आज दुस्साहस की है। ये कायर, कूपमण्डूक और

के मैदान तक नहीं हैं, अन्य सुविधाओं की तो बात ही छोड़ दीजिए। आधी आबादी, यानी लड़कियां खेल से और भी दूर हैं। खेलों में हिस्सा लेने के लिए लड़कियों को कदम-कदम पर रुद्धियों-वर्जनाओं-लांछनों-उपेक्षाओं और पितृसत्तात्मक ढांचे की अनगिनत बाधाओं से भरी लम्बी बाधा दौड़ पार करनी पड़ती है।

ऐसे में आश्चर्य की बात नहीं कि ओलम्पिक खेलों में भारत की यह दुर्दशा हो। अशिक्षित, कूपमण्डूक, अन्धविश्वासी, अतीतजीवी और गतिरोधग्रस्त समाज में जीने वाले भारत के लोग आज भी करिश्मे में यकीन करते हैं, पर आज की दुनिया में करिश्मे जैसी कोई चीज नहीं होती। भारत के एक प्रांत में समा जाने वाले बल्गारिया, रोमानिया, क्यूबा,

हमसे बाद में आजाद हुआ चीन और केन्या तथा छोटा-सा कोरिया भी हमारे मुकाबले बहुत ही आगे हैं। यहां तक कि दुनिया के नक्शे में मुश्किल से दिखने वाले और भारत के बहुत सारे जिलों से भी कम आबादी वाले सुरीनाम, जैमैका, वर्जिन आइलैण्ड और जिबूती भी यदि ओलम्पिक पदक-तालिका में दिख जाते हैं तो इसका एकमात्र कारण यह है कि ये नये देश भी न तो भारत की तरह गतिरोधग्रस्त हैं, न ही इतने विपन्न और संकटग्रस्त। ऐसे में तय है कि यह ठहरा हुआ, जड़ता से ग्रस्त, अंधविश्वासी और कूपमण्डूक समाज यहीं पड़ा रहेगा और खेलकूद प्रेमी पढ़े-लिखे लोग, छात्र और नौजवान इसी दुर्दशा पर आंसू बहाते रहेंगे और सिसकियां लेते रहेंगे।

विकल्प और एकमात्र विकल्प यह है कि इस समाज की गतिशीलता बढ़े, आम आबादी को शिक्षा, दवा-दारू और जीवन की सभी आधुनिक सुविधाएं मुहैया हों, समाज की सम्पन्नता बढ़े, खेल-कूद की अधुनातन सुविधाएं, तकनीक और हुनर सबको हासिल हों। यह कैसे होगा, यह सोचने का काम हम अपने पाठकों के विवेक पर छोड़ते हैं—वे विचार करें, पूरे समाज का विश्लेषण करें और यह सोचें कि ऐसा समाज लाने का क्या रास्ता है तथा यह कि हमारे सामने कोई अन्य विकल्प है या नहीं। खेलकूद प्रेमी पाठक, छात्र और युवा इस मुद्दे पर सोचें और गैर करें, हमारा यह अनुरोध है।



टुट्पुजिया गलोज ऐयाशी की मानसिकता वाले लोग हैं। इस कारण इनमें से किसी योग्य होनहार खिलाड़ी का पैदा होना असम्भवप्राय है।

आबादी का शेष 12-13 प्रतिशत हिस्सा मध्यम श्रेणी के उन लोगों का है जो रोटी-दाल-चावल खा लेते हैं, चाय पी लेते हैं, औसत हद तक पढ़-लिख लेते हैं और जिनके सिर पर छत है। रोजी-रोटी की चिन्ता में लग हुए और खेलकूद की आधुनिक सुविधाओं से वंचित इसी वर्ग के बेटे-बेटियां कुछ हाथ-पांव मारने की कोशिश करते हैं।

जिन बड़े और धनी स्कूलों में खेल के अच्छे मैदान, प्रशिक्षक और अन्य सुविधाएं उपलब्ध हैं, उनमें जिस वर्ग की संतानें पढ़ती हैं वे क्रिकेट, टेनिस और निशानेबाजी जैसे चंद अभिजात खेलों को छोड़कर किसी खेल को कैरियर के रूप में नहीं अपनाते। और साधारण आदमी के बच्चों के लिए जो स्कूल हैं, उनमें से आधे से ज्यादा के पास तो खेल

जनता की पहलकदमी की एक शानदार मिसाल जनता के न्याय का एक अद्भुत दृश्य

राकेश कुमार

मेकिसको शहर से 50 कि.मी. उत्तर एक ग्रामीण बस्ती टेप्टीपेक में एक अभूतपूर्व दृश्य था। कमर के ऊपर बिना वस्त्रों के, एक दूसरे से बधे हुए पुलिस दस्ते के करीब 70 सदस्य, अपमानित और पराजित, सिर के पीछे दोनों हाथ रखे हुए घुटने के बल एक लाइन से बैठे थे। उस इलाके के जु़ुझारू और बगावती तेवर के छात्रों और किसानों द्वारा पुलिस को उनकी बर्बरता की यह सजा दी जा रही थी। राज्य सत्ता के दमनतंत्र की यह मशीनरी इस दिन छात्र-किसान एकता के सामने अवश और निरुपाय थी। सचमुच, दिन न्याय का एक अद्भुत दिन था वह।

टेप्टीपेक के पास एल मेक्स में लुइस विल्लारियल शिक्षक कालेज की जिस घटना ने छात्रों और किसानों में पुलिस के खिलाफ गुप्से को इतना भड़का दिया था और जिसकी परिणति उपरोक्त वर्णित दृश्य में हुई उसकी शुरुआत इस प्रकार हुई थी :

इसी वर्ष जनवरी में प्रधानाचार्य और उपप्रधानाचार्य द्वारा विद्यालय फण्ड का अपने निजी स्वार्थों के लिए दुरुपयोग करने के मामले ने वहाँ के छात्रों को आन्दोलित कर दिया और उन्होंने उन दोनों को विद्यालय से निष्कासित करने का निर्णय लिया। प्रतिक्रिया में हिडलगो प्रदेश की बुर्जुआ पार्टी पी.आर.आई. की सरकार तुरन्त बदले की कार्रवाई में उत्तर पड़ी। राज्य शिक्षा अधिकारियों ने विद्यालय के छात्रावासों की खाद्य आपूर्ति पर रोक लगा दी। साथ ही बीस प्रोफेसरों को भी विद्यालय से हटा दिया। छात्रों ने इसका जबर्दस्त विरोध किया और हटाये गये प्रोफेसरों को वापस लौटाने की मांग को लेकर उन्होंने बसों तथा दूसरे वाहनों को अपने कब्जे में ले लिया।

21 जनवरी को पुलिस ने सौ छात्रों को उस समय गिरफ्तार कर लिया जब शाम के समय वे एक सांस्कृतिक कार्यक्रम से एल मेक्स की ओर लौट रहे थे। उसके कुछ दिनों के

बाद सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था के राज्य अधिकारी ने विद्यालय को फौरी तौर पर बन्द कर देने की घोषणा कर दी और छात्र समिति के 36 सदस्यों को निष्कासित कर दिया। उसने यह निर्णय भी सुना दिया कि जिन छात्रों की पढ़ाई जारी रखने में रुचि हो वे प्रदेश (हिडलगो) की राजधानी पाचुका के राष्ट्रीय प्रशिक्षण विश्वविद्यालय में नामांकन करा लें।

लेकिन, फरवरी तक आते-आते छात्र खुले संघर्ष में कूद पड़े। पुलिस ने करीब 260 छात्रों को गिरफ्तार कर लिया। इनमें से अधिकांश दूसरे प्रशिक्षण केन्द्रों के छात्र थे जो अलग-अलग इलाकों से लुइस विल्लारियल के अपने छात्र साथियों के समर्थन में आ खड़े हुए थे। कुछ को जेल भेज दिया गया और कुछ छात्रों को वापस उनके इलाकों में जबर्दस्ती पहुंचा दिया गया। फरवरी के पहले पखवारे में एल मेक्स के सौ से ऊपर की संख्या में छात्रों ने मेकिसको शहर में सेक्रेटरी कार्यालय के सामने विरोध

प्रदर्शन किया।

17 फरवरी को एल मेक्स से छात्र और शिक्षक विरोध प्रदर्शन के लिए पान्चांका पहुंचे। दूसरे इलाकों से भी छात्रों की भारी आवादी उनके समर्थन में आ जुटी। शहर के मुख्य चौक पर उन्होंने अपना डेरा जमाया। 19 फरवरी को रात के 3 बजे राज्य के 400 ग्रेन्डेरास (दंगारोधी पुलिस के जवान) मुख्य चौक पर आ पहुंचे। उन्होंने नगर हाल के दरवाजों के शीशों को तोड़ दिया और इसका आरोप छात्रों के मर्थे मढ़ कर भयंकर दमनात्मक कार्रवाई शुरू कर दी। उन निहत्थे छात्रों पर वे अपनी पूरी ताकत के साथ टूट पड़े। कड़वों को गिरफ्तार करके जेल में डाल दिया गया और आन्दोलन के नेताओं के बारे में जानकारी हासिल करने के लिए गिरफ्तार छात्रों पर डंडे तोड़े गये और उन्हें अमानुषिक यातनाएं दी गईं। कुछ ही घण्टों बाद, 6 बजे के करीब, “ग्रेन्डेरास” ने एल मेक्स के परिसर में बलपूर्वक प्रवेश किया और 400 छात्रों के साथ ही साथ उनके अधिभावकों और समर्थकों को गिरफ्तार कर लिया। पुलिस ने उन्हें बर्बरापूर्वक पीटा। बच्चों और बुर्जुगों तक को नहीं बरब्दा। छात्रों के साथ बदसलूकी की और कड़वों के साथ बलात्कार तक किया।

सुबह के आठ बजते-बजते टेप्टीपेक में इस बर्बर हमले की जानकारी चप्पे-चप्पे में आग की तरह फैल गयी। स्थियों ने पहलकदमी ली और नेतृत्व की कमान को अपने हाथों में सम्भाल लिया। धीरे-धीरे लोगों की भीड़ संगति



चित्र : 'टाइम्स आफ इण्डिया' 21.2.2000 से साभार

मगतसिंह के जन्मदिवस (27 सितम्बर) के अवसर पर

भारतीय रिपब्लिक के नौजवानों, नहीं सिपाहियों, कतारबद्ध हो जाओ। आराम के साथ न खड़े रहो और न ही निर्थक कदमताल किये जाओ। लम्बी दृष्टिकोण को, जो तुम्हें नाकारा कर रही है, सदा के लिए उतार फेंको। तुम्हारा बहुत ही नेक मिशन है। देश के हर कोने और हर दिशा में बिखर जाओ और भावी क्रान्ति के लिए, जिसका आना निश्चित है, लोगों को तैयार करो। फर्ज के बिगुल की आवाज सुनो।

गंवाओ। बढ़ो, तुम्हारी जिन्दगी तरीके और तरीब ढूँढ़ने में अपनी पुश्तन धरती की आंखों लम्बी अंगड़ाई लेकर जागे। नवयुवकों के उर्वर हृदयों में भर दो, ऐसे बीज डालो जो जायें क्योंकि इन बीजों को तुम अपने गर्म खून के जल से संचोगे। तब एक भयानक भूचाल आयेगा, जो बड़े धमाके से गलत चीजों को नष्ट कर देगा और साम्राज्यवाद के महल को कुचलकर धूल में मिला देगा और यह तबाही महान होगी।

तब, और सिर्फ तभी, एक भारतीय कौम जागेगी, जो अपने गुणों और शान से इन्सानियत को हैरान कर देगी। तब चालाक और बलवान सदा से कमजोर लोगों से हैरान रह जायेंगे। तभी व्यक्तिगत मुक्ति भी सुरक्षित होगी और मेहनतकश की सरदारी और प्रभुसत्ता को सत्कारा जायेगा। हम ऐसी ही क्रान्ति के आने का संदेश दे रहे हैं। क्रान्ति अमर रहे!

हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन के घोषणापत्र से



वैसे ही खाली जिन्दगी न का हर पल इस तरह के लगना चाहिए, कि कैसे में ज्वाला जागे और एक अंग्रेज साम्राज्य के खिलाफ एक उकसाहट और नफरत कि उगें और बड़े वृक्ष बन

जायें क्योंकि इन बीजों को तुम अपने गर्म खून के जल से संचोगे। तब एक भयानक भूचाल आयेगा, जो बड़े धमाके से गलत चीजों को नष्ट कर देगा और साम्राज्यवाद के महल को कुचलकर धूल में मिला देगा और यह तबाही महान होगी।

तब, और सिर्फ तभी, एक भारतीय कौम जागेगी, जो अपने गुणों और शान से इन्सानियत को हैरान कर देगी। तब चालाक और बलवान सदा से कमजोर लोगों से हैरान रह जायेंगे। तभी व्यक्तिगत मुक्ति भी सुरक्षित होगी और मेहनतकश की सरदारी और प्रभुसत्ता को सत्कारा जायेगा। हम ऐसी ही क्रान्ति के आने का संदेश दे रहे हैं। क्रान्ति अमर रहे!

”

कार्बाई के लिए इकट्ठा होने लगी। लोगों ने पुलिस के बर्बर हमले को छात्रों के खिलाफ ही नहीं बरन् इसे गरीबों के खिलाफ भी माना।

और फिर उन अति साधारण लोगों ने वह किया जो हर क्रान्तिकारी युवा और इंसाफ पसन्द व्यक्ति की स्मृतियों में हमेशा लौ बनकर जलती रहेगी। वे गरीब और साधनहीन लोग गण्य दमन तंत्र की शक्तिशाली पुलिस मशीनरी से टकरा गये और अपनी संगठित एकता के बल पर उन्हें घुटने टेकने पर मजबूर कर दिया। एक कुशल रणनीतिज्ञ की तरह पुलिस दस्ते को कैम्पस के भीतर ही घेर लेने के लिए लोगों ने विद्यालय के प्रवेश द्वारों और निकट के मार्गों को पथरों से बंद कर दिया और जगह-जगह बड़े-बड़े अलाव जला कर उनके भागने के रास्तों को जाम कर दिया। उनके वाहनों को चकनाचूर कर दिया। पुलिस दस्ते के कुछ सदस्य अपने को बचाने के लिए गन्दगी से बजबजाते पास के नाले में कूद पड़े। लेकिन 70 पुलिस

वाले जनता के हाथों पकड़े गये।

जनता ने उनके कपड़े उतरवा लिये। अधोवस्त्रों को छोड़कर किसी के पैटन तक उतरवा लिये। उन्हें लम्बी रस्सी से एक साथ बांध दिया गया और टेपीपेक की सड़कों पर घुमाया गया। एक पुलिस के गले में लटकी तख्ती पर यह लिखा हुआ था—“मैं राज्य सरकार का कूड़ा हूं!” नगर के मुख्य चौक पर पुलिस वालों को घुटनों के बल बलपूर्वक बिठाया गया। लोग उन्हें घेर कर खड़े हो गये और उनकी वर्दियों, जूतों, जाकेटों को इकट्ठा कर उनमें आग लगा दी गई। पास में ही उनसे जब्त किये गये हथियारों—राइफलों तथा हथगोलों का जखीरा जनता के कब्जे में पड़ा हुआ था। पहले अधिकारियों ने लीपापोती करने की कोशिश की कि पुलिस दस्ता हथियारबन्द नहीं था। परन्तु सामने प्रत्यक्ष प्रमाण था, इसलिए अधिकारियों को पुलिस के हथियारबन्द होने की बात स्वीकार करनी पड़ी।

दायित्वबोध

उन बुद्धिजीवियों की पत्रिका जिन्होंने जनता का पक्ष चुना है

जुलाई-सितम्बर 2000 ड्रांक की महत्वपूर्ण सामग्री

- एक नई संगीत संस्कृति के निर्माता
- स्त्री मुक्ति का राजनीतिक अर्थशास्त्र महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति का दस्तावेज
- समाजवाद की अवधि में वर्ग संघर्ष के नियम
- महत्वपूर्ण होती है आम जनता : एक गणितज्ञ की आस्था
- राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त
- आर्थिक-राजनीतिक टिप्पणियां

सम्पादकीय कार्यालय :

3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर लखनऊ-226010

फोन : (0522)-308896

एक प्रति : 15 रुपए

वार्षिक : 60 रुपए

आम जनता की इस आक्रामक और साहसिक कार्बाई के आगे प्रशासन को झुकना पड़ा और हिरासत में लिये गये छात्रों और शिक्षकों को उन्हें रिहा करना पड़ा। छात्रों-शिक्षकों की रिहाई के बाद ही जनता ने पुलिस दस्ते के लोगों को छोड़ा। और वह भी जब बहुत अनुनय-विनय करके विरोधी राजनीतिक दल के नेताओं ने जनता को इसके लिए मनाया। केवल उन्हें इस जिल्लत से छुटकारा मिल सका।

टेपीपेक के और दुनिया के सभी आमजनों के लिए यह एक न्याय का दिन था, एक आनन्द का दिन था जब आतंक और दमनकारी सत्ता की प्रतीक बनी पुलिस उन साधारण लोगों के सामने शक्तिहीन, पराजित और निरुपाय थी जिन्होंने हमेशा ही इतिहास रचा है।

(‘रिवोल्यूशनरी वर्कर’ में छपी रिपोर्ट पर आधारित)

एक अत्यन्त सामयिक पुस्तक—माँ

मक्सिम गोर्की (1868-1936) साहित्य में वह पहले लेखक थे जिन्होंने साफ तौर पर मजदूर वर्ग की युग परिवर्तनकारी ताकत को पहचाना, उसके भीतर छिपे मानवता के उम्मेल भविष्य को देखा, मानवता और जिन्दगी के प्रति उसके उद्दाम आवेग से भरे प्यार की रोशनाई में अपनी लेखनी डुबाई और हेनरिक मान के शब्दों में, “पहली बार साहित्य में उस वर्ग के प्रतिनिधियों को हीरो के रूप में पेश किया जिनका अब तक कभी प्रतिनिधित्व नहीं हुआ था।” पहली बार मेहनतकशों की जिन्दगी, उनकी ताकत, उनके अतल प्यार, उनकी बेइन्तहा नफरत, उनकी अपूर्व संघर्षशीलता को, उनके पूरे समाज को, उनके मूल्यों-मान्यताओं को और उनके द्वारा लाये जाने वाले सुनहरे नव विहान को गोर्की ने साहित्य के फलक पर उकेरा।

आज जब सिर्फ हमारे देश में ही नहीं पूरी दुनिया के पैमाने पर पूँजीवादी कोड़ का नासूर बह निकला है, जर्जर और अमानवीय पूँजीवाद का वास्तविक चेहरा सभी के सामने उजागर हो चुका है, जब पूँजीवाद इतिहास को आगे बढ़ाने वाली तमाम भौतिक और आध्यात्मिक शक्ति खो चुका है तब इतिहास को अग्रगामी गति देने वाले वर्ग को केन्द्र में रखकर लिखी गयी, गोर्की की अमर कृति, ‘माँ’ एक सामयिक पुस्तक बन जाती है।

तत्कालीन रूस के मजदूरों के जीवन और उनके संघर्षों का यह चित्र हमारे देश पर भी उतनी ही तीक्ष्णता से लागू होता है। हम इस अंक में उसी अमर उपन्यास का एक परिचय छाप रहे हैं जो पूरे विश्व साहित्य के विकासक्रम में भील का पथर कहा जाता है।

□ सत्यव्रत

मक्सिम गोर्की के विश्व प्रसिद्ध उपन्यास ‘माँ’ के केन्द्र में रूस के निझनी नोवगोरोद नामक कस्बे के उपनगर सोर्मोवो के मजदूरों द्वारा 1902 के मई दिवस के उपलक्ष्य में किया गया प्रदर्शन है। यह प्रदर्शन और बाद में प्रदर्शनकारियों पर चलाया गया मुकदमा इस उपन्यास की केन्द्रीय वस्तु है। उपन्यास के दो प्रमुख चरित्रों—माँ पेलागेया निलोवना और पुत्र पावेल व्लासोव के लिए मुख्यतः सोर्मोवो की एक मजदूर महिला और पुत्र प्योत्र जालोमोव, जिसे 1902 के मई दिवस में भाग लेने के आरोप में गिरफ्तार किया गया था और बाद में निर्वासन की सजा भी दी गयी थी, के जीवन को आधार के रूप में प्रयोग किया गया है : इसके अतिरिक्त अन्य कई पात्रों को भी वास्तविक जीवन के चरित्रों से उठाया गया है।

लेकिन इस उपन्यास की प्रमुख विशेषता इसके पात्रों का वास्तविक व्यक्तियों के जीवन से मेल खाना नहीं, वरन् उस प्रक्रिया को दर्शाना है जिसके द्वारा तत्कालीन रूस के आम मजदूर और किसान राजनीतिक रूप से जागरूक हो रहे थे, यहां यह बात ध्यान रखने योग्य है कि जिस राजनीतिक चेतना के विकास की प्रक्रिया को गोर्की अपने उपन्यास के जरिये प्रमुखता से उभार रहे थे, उसी चेतना के फलस्वरूप 1905-07 की असफल क्रान्ति की भयानक हार और दमन के बावजूद पात्र बारह वर्ष के अन्तराल में केवल रूस में ही नहीं वरन् समूचे विश्व में एक नया इतिहास रचा गया—सेवियत संघ की नवम्बर, 1917 की समाजवादी क्रान्ति जिसने समूचे विश्व और उसके भविष्य को दूरगमी तौर पर प्रभावित किया।

तत्कालीन रूस के मजदूरों का जीवन किसी भी दृष्टि से विश्व के किसी भी देश के मजदूरों के जीवन से भिन्न नहीं था। गोर्की में इस जीवन के प्रति गहरी विवृष्णा है जो उपन्यास के प्रथम कुछ पृष्ठों में ही स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आती है। मशीनी यांत्रिकता से जुड़ा एक आम मजदूर का चिंडिचिंडा और झगड़ालू स्वभाव उसके पारिवारिक और सामाजिक जीवन में हर पल और हर क्षण एक ऐसा जहर घोलता

रहता है कि वह जीवन किसी भयावह नरक की कल्पना से भी अधिक यंत्रणादायी दिखायी देता है। गोर्की द्वारा 1907 में खींचा गया रूसी मजदूरों का यह नीरस, यांत्रिक और नारकीय जीवनचित्र हमारे अपने देश के मजदूरों के जीवन के कितना निकट है इसे सहज ही महसूस किया जा सकता है और ऐसा ही महसूस करती थी माँ पेलागेया निलोवना जब मजदूर बस्ती के उसके छोटे से मकान में पावेल और उसके साथी अपनी अध्ययन मंडली में दूर देश के मजदूरों के जीवन के बारे में बातें करते थे, उनके संघर्षों की विजय में खुशी का एहसास करते थे और असफलता में दुख का। वहीं उसके उस छोटे से कमरे में सोर्मोवो के मजदूरों में समूची दुनिया के मजदूरों के साथ भाईचारे के भाव का एहसास उत्पन्न होना शुरू हुआ।

प्रबन्ध की दृष्टि से उपन्यास दो खण्ड में है। प्रथम खण्ड में पेलागेया निलोवना और उसके शराबी और झगड़ालू पति मिखाईल व्लासोव के दाम्पत्य जीवन का एक संक्षिप्त चित्र खींचा गया है जो अन्य लाखों मजदूरों के जीवन की ही तरह है जिनके लिए दिन की शुरुआत कारखाने की सीटी की कर्कश चीख के साथ होती है, दिन मशीनों के शेर और कालिख के बीच बीतता है और अन्त होता है शराब और परिवार में गाली-गलौज के साथ। आकार की दृष्टि से मिखाईल व्लासोव उपन्यास के प्रबन्ध में एक बहुत ही छोटा स्थान पाता है लेकिन उसका सम्पूर्ण जीवन आम मजदूरों के जीवन का अत्यन्त ही तीक्ष्णता से प्रतिनिधित्व करता है। उसकी मृत्यु के पश्चात उसके बेटे पावेल ने भी उसी ढरें को अपनाने की कोशिश की लेकिन उसके भीतर एक ऐसी बेचैनी थी, एक ऐसी छटपटाहट थी जिसने जल्द ही उसके रास्ते को बदल दिया। कारखाने और मजदूर बस्ती का जो जीवन अन्य हजारों मजदूरों को अत्यन्त स्वाभाविक प्रतीत होता था पावेल के लिए दमधोटू था। पावेल के नितान्त भिन्न किस्म के साथी, उसकी पुस्तकों में रुचि, शराब और अलील भाषा के प्रति उसकी नफरत, उसका हर सप्ताहान्त में शहर जाना, छुट्टी के समय में घर के कामों में माँ की मदद करना जैसी ढरें दूसरी चीजें उसके व्यवहार में थीं जो पेलागेया निलोवना के लिए सुखद तो थीं लेकिन साथ ही एक अनजाना सा भय भी लिये हुई थीं। इस तरह का व्यवहार उसके लिए अनजाना था। उसका समूचा जीवन अपने पति की

गालियां सुनते, उसके हाथों मार खाते बीता था जहां वह हमेशा एक छोटी सी चुहिया की तरह भयभीत रहती थी। इस जीवन को जीते हुए वह दुख, उपेक्षा और अपमान सहने की आदी हो चुकी थी, वह इसे जीवन का स्वाभाविक और अनिवार्य पहलू मान चुकी थी। उसके आस-पास के तमाम मजदूर परिवारों का जीवन भी इससे भिन्न नहीं था। अतः इस जीवन क्रम में परिवर्तन उसके लिए सुखद तो था लेकिन अविश्वसनीय थी।

पावेल, अन्द्रेई नखोदका, निकोलाई वेसोवश्चिकोव और शहर के साथी नताशा, साशा जैसे लोगों द्वारा शुरू किया गया अध्ययन चक्र जोर पकड़ने लगा। मां के लिए ये सभी लोग एक अजनबी दुनिया से आये हुए लगते थे। उत्साह, उमंग, उल्लास और प्रेम से छलकती उन लोगों की दुनिया उसे स्वर्य अपने जीवन की याद दिलाती थी, उसे अपनी युवावस्था की उन पार्टियों की याद आती थी जहां शराब से चूर लोग आपस में लड़ते, एक दूसरे पर अश्लील गालियों की बौछार करते और लज्जा के मारे उसका सर झुक जाती। पावेल और उसके साथियों के बीच होने वाले बहस-मुबाहिसों से वह धीरे-धीरे समझने लगी कि जिस दुख, उपेक्षा और अपमान को वह जीवन का स्थायी और अनिवार्य पहलू मान चुकी थी वह हमेशा से ऐसा नहीं था। एक समय ऐसा भी था जब इंसान बराबर होते थे, जब कोई मालिक और कोई उसके लिए काम करने वाला मजदूर नहीं होता था जब ईर्ष्या, द्वेष और कलह का साम्राज्य नहीं था, जब लोग एक दूसरे के खून के प्यासे नहीं थे। धीरे-धीरे वह यह भी समझने लगी कि जब से गैर बराबरी पैदा हुई तभी से उसके विरुद्ध संघर्ष भी ग्राम्य हो गया और उसके बाद यह संघर्ष हर युग और हर देश में हर समय चलता रहा है।

जल्द ही पावेल और उसके साथियों के द्वारा मजदूरों के लिए पर्चे छापे जाने लगे। सीधी-सादी भाषा में लिखे इन पर्चों में मजदूरों को बताया जाता था कि उनकी लगातार गिरती हुई हालत के क्या कारण हैं, मालिक लोग किस तरह छल प्रपञ्च रच कर उन्हें लूटते रहते हैं, इस लूट के विरुद्ध किस प्रकार रूस के दूसरे हिस्सों में और दुनिया के दूसरे देशों में मजदूर अपनी लड़ाई को जारी रखे हुए हैं। पर्चों में छपी सच्चाई से मजदूर प्रभावित तो होते थे लेकिन अपने आपको असहाय और असंगठित पाते थे। इस सबके बावजूद मजदूर बस्ती के अधिकांश मजदूर पावेल और उसके साथियों की ईमानदारी, संघर्षशीलता को दिल ही दिल में चाहने लगे। और एक कोपेक की घटना के बाद तो उनका सिक्का ही जम गया।

कारखाने के पास की जमीन दलदली थी। नया डाइरेक्टर दलदल को सुखाक जमीन को इस्तेमाल लायक बनाना चाहता था। इसके लिए उसने प्रत्येक मजदूर के बेतन से एक कोपेक (रूसी पैसा) की कटौती का आदेश जारी किया। स्वतःस्फूर्त ढंग से ही मजदूरों में इस पर तीखी प्रतिक्रिया हुई। काम बन्द कर सभा का आयोजन किया गया जिसमें कारखाने के बुरुंग मजदूरों के आग्रह पर अस्वस्थता के बावजूद पावेल ने भी भाग लिया। यद्यपि उसका प्रस्ताव, कि इस कटौती के विरोध में काम बन्द कर दिया जाये, मजदूरों के बहुमत को स्वीकार्य नहीं था फिर भी प्रबन्धकों द्वारा घबराकर कटौती को वापस ले लिये जाने के कारण पावेल और उसके साथियों की लोकप्रियता बढ़ी। लेकिन जब इस घटना के तुरन्त बाद पुलिस ने पावेल और अन्य कई मजदूरों को गिरफ्तार कर लिया तो एक बार पुनः पस्तहिम्मती और निराशा का आलम छाने लगा।

ऐसे समय में मां, जो अब तक अपने बेटे और उसके साथियों के उद्देश्यों को काफी हद तक समझ चुकी थी, ने अपने बेटे के कामों में भागीदारी का निश्चय किया। पेलागेया निलोवना का दयालु और

न्यायप्रिय हृदय, उसकी नेकी और जीवन के बारे में उसकी दृष्टि, पावेल की गिरफ्तारी पर उसके दुख के बावजूद, उसे अपने बेटे का रास्ता अपनाने पर विवश कर देती है। छिपे तौर पर पर्चों का वितरण जारी रहता है।

पावेल और उसके साथियों की जेल से रिहाई के बाद जोर-शोर से मई-दिवस मनाने की तैयारियां शुरू कर दी जाती हैं। वे लोग महसूस करने लगे थे कि अब उन्हें खुले रूप में सबके सामने अपने उद्देश्यों को स्पष्ट रूप से रखना चाहिए। मजदूरों की तैयारी के समानान्तर प्रशासन की तैयारियां भी गति पकड़ती हैं। और जब पहली मई को प्रदर्शन के दौरान मजदूरों को पता चलता है कि पुलिस के साथ स्वयं गवर्नर मौके पर पहुंचा हुआ है तो वे भी जो प्रदर्शन में शामिल नहीं थे इन बहादुर नौजवानों के प्रति आकर्षित होने लगे। मई दिवस प्रदर्शन और प्रदर्शन के बाद हुई गिरफ्तारियों के साथ ही उपन्यास का प्रथम खण्ड समाप्त होता है।

प्रथम खण्ड के आरम्भ में अपनी जैसी ही हजारों मेहनतकश औरतों की तरह पेलागेया निलोवना पूरी जिन्दगी मेहनत करते हुए अपने शराबी पति के लड़ाई झगड़ों और मार-पीट से बेहद दुखी, जीवन की सारी खुशियों से बंचत है। पर जब उसका बेटा पावेल कारखाना बस्ती के लोगों की जिन्दगी के ढर्रे को छोड़कर क्रान्तिकारी बन जाता है तो इस नयी चीज को बाल सुलभ उत्सुकता से समझने की कोशिश करती हुई वह पेलागेया निलोवना स्वयं भी उसी रास्ते को अपना लेती है। अन्द्रेई जैसे मजदूर साथियों और किसान रीबिन जैसे चरिंचों के रूप में नई दुनिया के नये लोग सामने आते हैं और सामने आती है संघर्ष प्रक्रिया की पवित्र आग में तपकर सापान्य लोगों के आन्तरिक कायाकल्प की कहानी। पावेल और उसके साथी जिस नयी दुनिया के लिए संघर्ष कर रहे हैं अन्द्रेई उसका एक बहुत ही सजीव चित्र खींचता है “मैं जानता हूं कि एक समय ऐसा अवश्य आयेगा जब लोग स्वयं अपने सौन्दर्य पर चकित होंगे, जब उनमें से प्रत्येक दूसरे के लिए एक तारे की तरह उज्ज्वल होगा। पृथ्वी पर आजाद इंसानों का बास होगा। सभी के दिल विशाल होंगे और ईर्ष्या और द्वेष नहीं होगा। और तब प्रकृति इंसान की सेवा करेगी और उदात्त और मानवीय पूल्यों का साम्राज्य कायम होगा क्योंकि आजाद इंसानों के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। और तब लोग सच्चाई और आजादी के साथ जियेंगे, जीवन के सौन्दर्य के लिए जियेंगे, और सबसे सुन्दर, सबसे अच्छे वही लोग होंगे जो समूची दुनिया को प्यार करते हों। नये जीवन के वे लोग महान लोग होंगे। और ऐसे जीवन के लिए मैं कुछ भी कर सकता हूं।”

उन लोगों के लिए जो हिंसा-अहिंसा के सवाल को लेकर एक अन्तहीन बहस में उलझे रहते हैं, जो अत्याचारी शासन के द्वारा सैकड़ों तरीकों से प्रतिदिन और प्रतिपल होने वाली हिंसा से तो आंखें मूँदे रहते हैं परन्तु विरोध में उठे किसी कदम को हिंसक करार दे देते हैं—उनके लिये एक बेहद शानदार उत्तर अन्द्रेई के शब्दों में, “आज हम कुछ लोगों से नफरत करने के लिए मजबूर हैं, ताकि एक ऐसा समय आये जब हम सबसे प्यार कर सकें। जो कोई भी स्वयं अपने लिये सम्मान और सुरक्षा के लालच में लोगों को बेचता है, हमारा शत्रु है। यदि कोई जूडस ईमानदार लोगों के मार्ग में बाधा खड़ा करता है तो मैं स्वयं जूडस कहलाऊंगा। यदि मैं उसका खात्मा नहीं करता। तुम कहते हो मुझे कोई अधिकार नहीं है? लेकिन वे हमारे मालिक—क्या उनके पास सेनाएं, जल्लाद, वेश्यालय और जेलखाने, निर्वासन के स्थान और वो सब अभिशप्त साधन

रखने का अधिकार है जिनके जरिये वे अपनी सुविधाओं की रक्षा करते हैं? यदि मुझे हथियार उठाने पर विवश होना पड़ता है तो क्या यह मेरा दोष है? मैं इसे बिना किसी उलझन के उठाऊँगा। यदि वे हमें सैकड़ों की तादाद में मौत के घाट उतारते हैं तो यह मेरा भी अधिकार है कि मैं अपना बाजू उठाऊँ और उसके सर पर चोट करूँ जो दूसरों की अपेक्षा मेरे अधिक निकट आ गया है और जो दूसरों की तुलना में मेरे उद्देश्य को अधिक हानि पहुंचा सकता है। जीवन ऐसा ही है। लेकिन मैं ऐसे जीवन के विरुद्ध हूँ, मैं नहीं चाहता कि यह ऐसा हो। मैं जानता हूँ कि उनके खून से कुछ भी नहीं पैदा होगा, यह बांझ है। जब हमारा रक्त वर्षा की बौछार की तरह पृथ्वी पर बिखरता है तो सच्चाई जन्म लेती है। लेकिन उनका खून तो बस सूख जाता है।"

और पावेल के शब्दों में, "यह अपराध है, मां। लाखों लोगों की हत्या। इंसानी आत्माओं की हत्या। क्या तुम इसे समझती हो? आत्मा के हत्यारे। क्या तुम हमारे और उनके बीच की भिन्नता को समझती हो? जब हम किसी को मारते हैं तो यह हमारे लिए धृणास्पद, लज्जाजनक और पीड़ादायी होता है। लेकिन वे हजारों लोगों को अत्यन्त निर्ममता से ठण्डेपन के साथ मार देते हैं और इससे उन्हें कोई बेचैनी नहीं होती वरन् सन्तोष होता है। और वह एकमात्र कारण, जिसके लिए वे लोगों को मौत के घाट उतारते हैं, उस सोने और चांदी की सुरक्षा जिसकी बदौलत वे हमें अपना गुलाम बनाये रखते हैं। जरा सोचो तो—जब वे हत्या करते हैं और अपनी आत्मा को कलुषित करते हैं तो वे अपने जीवन की सुरक्षा नहीं कर रहे होते हैं बल्कि सम्पत्ति की। ऐसी चीजें जो इंसान से बाहर हैं, वे नहीं जो उसके भीतर हैं।"

द्वितीय खण्ड में पूर्णतया मां का आधिपत्य है। पावेल की गिरफ्तारी के बाद वह कारखाना बस्ती के मकान को छोड़कर पावेल के ही साथी निकोलाई इवानोविच के यहां जाकर रहने लगती है और पूरी तरह से एक नयी दुनिया, एक बेहतर दुनिया के संघर्ष में अपनी भूमिका निभाने लगती है। वह गांव के किसानों के लिए छपे अखबार और पचाँ को दूर दराज के स्थानों पर पहुंचाती है, जेल से भागे साथियों के लिए छेपने के स्थान का बन्दोबस्त करती है, घायल साथियों की देखभाल और सेवा सुश्रूषा का काम करती है। यह सब करते हुए वह सिर्फ गवेल ही नहीं उन सबकी मां का स्थान ग्रहण कर लेती है जो एक यायपूर्ण युद्ध के सैनिक है।

इस द्वितीय खण्ड में मुख्य रूप से शहरी पृष्ठभूमि के मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों का वर्णन है जो क्रान्ति के कार्य में अपनी सहयोगी भूमिका निभा रहे थे। गोर्की की पैनी दृष्टि इन मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों की कमियों को भी भेदती है। निकोलाई इवानोविच की बहन सोफिया के बारे में गोर्की कहते हैं, "सोफिया उस किशोरी की तरह थी जो चाहती है कि दूसरे उसके साथ वयस्कों जैसा व्यवहार करें। वह श्रम की पवित्रता के बारे में बातें करती थी लेकिन अपने अव्यवस्थित व्यवहार से हमेशा मां का काम बढ़ाती रहती थी : वह स्वतंत्रता के बारे में बड़ी ऊँची-ऊँची बातें करती थी लेकिन अपनी असहिष्णुता और अनतीन तर्कों से हमेशा दूसरों को दबाती रहती थी।" निकोलाई इवानोविच के बारे में वह मां के जरिये कहते हैं, "खोखोल की तरह वह लोगों के बारे में बिना किसी द्वेष के बात करता था, संसार की बुराइयों के लिए वह सभी को दोष देता था लेकिन नये जीवन में उसका विश्वास अन्द्रेई की तरह उत्कट नहीं था और न उस जितना स्पष्ट।" लेकिन इस सबके बावजूद क्रान्ति में मध्यवर्गीय पृष्ठभूमि से आये बुद्धिजीवियों की भूमिका के प्रति गोर्की पूरा न्याय करते हैं।"

द्वितीय खण्ड के कथानक की मुख्य घटनायें हैं—मां और सोफिया द्वारा किसानों के लिए छपे अखबार और पचाँ को रीबिन तक पहुंचाना, येगोर इवानोविच नामक एक साथी की मृत्यु के बाद कब्रिस्तान में पुलिस द्वारा लातीचार्ज, रीबिन की गिरफ्तारी, पावेल और उसके साथियों पर मुकदमा और निवासन की सजा, अदालत में पावेल द्वारा दिये गये भाषण के आधार पर छापे गये पचाँ को एक स्थान पर पहुंचाते हुए मां की गिरफ्तारी।

रीबिन के काम के स्थान पर मां और सोफिया का परिचय अन्य मजदूरों के अलावा एक ऐसे मजदूर से हुआ जो पूजीपतियों के कारनामों की एक चलती-फिरती तस्वीर था। "वे क्यों हमें काम के बोझ से मारते हैं? वे क्यों किसी इंसान की जिन्दगी को लूटते हैं? हमारा मालिक—मैं नेफेदेव कारखाने में काम करता था—मेरे मालिक ने एक अभिनेत्री को एक सोने का टब और एक सोने की चिलमची तोहफे में दी। मेरी पूरी शक्ति और समूचा जीवन उस बर्तन को बनाने में बीत गया!... एक व्यक्ति ने मुझे काम के बोझ से मार डाला ताकि वह मेरे रक्त से अपनी प्रेयसी को प्रसन्न कर सके! उसने मेरे जीवनरक्त से अपनी प्रेयसी के लिए सोने की चिलमची खरीदी!... मेरे मालिकों ने मुझे लूट लिया—मेरे जीवन के चालीस वर्षों की लूट—चालीस वर्ष!" और रीबिन के शब्दों में, "जब एक मशीन किसी मजदूर का बाजू काट देती है या उसकी जान ले लेती है तो वे कहते हैं कि मजदूर का दोष था। लेकिन जब वे एक व्यक्ति का समूचा रक्त चूस कर उसे कूड़े की तरह फेंक देते हैं तो इसका कोई कारण नहीं दिया जाता। वे क्यों हम सब पर अत्याचार करते हैं? सिर्फ मजे के लिए, अपनी खुशी के लिए ताकि वे इस पृथ्वी पर घौंज कर सकें—इन्सानी खून की कीमत पर जो चाहे खरीदें—अभिनेत्रियां, दौड़ के घोड़े, चांदी के चाकू, सुनहरी तशरियां, बच्चों के लिए महंगे खिलौने।"

मुकदमे के दौरान पावेल द्वारा दिया गया बयान समूचे संघर्ष की अन्तर्वस्तु को नये-तुले शब्दों में स्पष्ट रूप से सामने रख देता है। वह कहता है, "हम क्रान्तिकारी हैं और जब तक इस पृथ्वी पर कुछ लोग बैठे-बैठे आदेश देते रहेंगे और दूसरों को आज्ञापालन में काम करना होगा, हम क्रान्तिकारी ही रहेंगे। जिस समाज के स्वार्थों की रक्षा करने के लिए तुम्हें आदेश दिया गया है हम उस समाज के विरुद्ध हैं; हम तुम्हारे और तुम्हारे समाज के दृढ़प्रतिज्ञ शत्रु हैं और जब तक हमारी विजय नहीं होती, हमारे बीच कोई भी मेल-मिलाप असम्भव है। और यह निश्चित है कि विजय हम मजदूरों की ही होगी। तुम्हारे मालिक उतने शक्तिशाली नहीं हैं जितना कि वे सोचते हैं।" और यद्यपि उपन्यास का अन्त पावेल और उसके साथियों के निवासन और मां की गिरफ्तारी के साथ होता है, इसके बावजूद पाठक के लिए मजदूर वर्ग की विजय निश्चित दिखायी देती है, मां के इन शब्दों में, "रक्त का समूचा सागर भी सच्चाई को नहीं ढुबो सकता।"

"उन किताबों से प्यार करो जो ज्ञान का स्रोत हों, क्योंकि सिर्फ ज्ञान ही बन्दनीय होता है; ज्ञान ही तुम्हें आत्मिक रूप से मजबूत, ईमानदार और बुद्धिमान, मनुष्य से सच्चा प्रेम करने लायक, मानवीय श्रम के प्रति आदरभाव सिखाने वाला और मनुष्य के अथक एवं कठोर परिश्रम से बनी भव्य कृतियों को सराहने लायक बना सकता है।"

— मक्सिम गोर्की

करोड़पति बनने को ललचाता दिवालिया महानायक

ए.बी.सी.एल. (अमिताभ बच्चन कारपोरेशन लिमिटेड) का दिवाला पिटने के बाद अपने इबते मनोरंजन कारोबार को बचाने का नुस्खा बीते जमाने के सुपर स्टार को आखिर मिल ही गया। स्टार टी.वी. चैनल पर अमिताभ बच्चन की 'एंकरशिप' में विंगत 3 जुलाई से चल रहा सीरियल 'कौन बनेगा करोड़पति' (के.बी.सी.) सुपर हिट हो गया है और पुरस्कार आधारित सीरियलों के सारे कार्तिमानों को ध्वस्त कर रहा है। मीडिया विशेषज्ञों का आकलन है कि दो दुखियाँ (अमिताभ और स्टार टीवी चैनल) के मिलन से पैदा हुए के.बी.सी. कार्यक्रम से दोनों के गर्दिश के दिन दूर हो जायेंगे।

1996 में बंगलोर में मिस वर्ल्ड स्पर्डो के आयोजन, बैंडिट कीन, बाम्बे, सजा-ए-काला पानी के वितरण और तेरे मेरे सपने, नाम क्या है? और मेजर साब जैसी फिल्मों के निर्माण से जुड़ी ए.बी.सी.एल. कम्पनी 70 करोड़ रुपये से अधिक के घाटे में चली गयी थी। दूरदर्शन का भी ए.बी.सी.एल. पर 17.65 करोड़ रुपये का बकाया हो चुका था। इस झटके से उबरने में 'बिंग बी' ने सत्ता के गलियाँ में अपनी पहुंच का भरपूर फायदा उठाया। ए.बी.सी.एल. को बीमार घोषित करवाकर 'बायफर' (बोर्ड ऑफ इण्डस्ट्रियल एण्ड फायर्नेशियल रिकन्स्ट्रक्शन) के हवाले कर अपनी ढूबती कश्ती को बचाने की कोशिश के साथ ही दूरदर्शन से भी यह समझौत करवाने में अमिताभ ने सफलता हासिल कर ली थी कि उसके कर्जे कम्पनी किश्तों में चुका दे। फिर भी केनरा बैंक और इलाहाबाद बैंक के भारी कर्जे अभी बाकी थे। इलाहाबाद बैंक ने तो अमिताभ के प्रिय बंगले 'प्रतीक्षा' और दो अन्य बंगलों पर अदालत की मदद से रिसीवर तक बैठा रखा है। इन दुश्वारियों में ढूबती-उतराती अमिताभ की कश्ती को आखिर पतवार मिल ही गयी। 130 एपिसोड की के.बी.सी. की एक श्रृंखला के लिए अमिताभ बच्चन फिलहाल 15 करोड़ रुपये कमा चुके हैं। जाहिर है सीरियल की सफलता से टीवी पर्दे पर अमिताभ का बाजार भाव काफी चढ़ चुका है और नये-नये आफरों की झड़ी लग जायेगी।

उधर 'स्टार' चैनल को भी अपनी मन्दी के दिनों से उबरने के लिए जरूरी 'किक' मिल

गयी है। टीवी चैनल युद्ध में सबसे आगे रहा स्टार चैनल पिछले दो-तीन वर्षों में खिसककर तीसरे स्थान पर पहुंच गया था। विज्ञापनों से कमाई के मामले में 'सोनी' और 'जी' स्टार से काफी आगे निकल चुके थे। ऐसे में के.बी.सी. की सफलता ने 'स्टार' के फिर से अच्छे दिनों का रस्ता खोल दिया है। कार्यक्रम को प्रायोजित करने के लिए बजाज, एल.जी., डिटॉल, कॉलगेट जैसे बड़े निर्माताओं से विज्ञापन के एवज में 'स्टार' 30 करोड़ रुपये की कमाई कर चुका है। कार्यक्रम की सफलता के बाद 'स्टार' ने पहले से ही बढ़ी विज्ञापन दरों को और बढ़ाने का फैसला कर लिया है। एक अनुमान के अनुसार इस कार्यक्रम से 'स्टार' कुल 175 करोड़ रुपये की कमाई करेगा जबकि सेट तैयार करने, अमिताभ बच्चन की मजदूरी देने, प्रचार-प्रसार एवं अन्य विविध तकनीकी खाचों को मिलाकर सिर्फ 75 करोड़ रुपये खर्च होंगे। जाहिर है, अमिताभ को लेकर खेला गया जुआ स्टार के लिए लकी साबित हो गया है। अमिताभ का जादू दर्शकों पर एक बार फिर चल गया है।

आखिर जादू क्यों नहीं चलता? कार्यक्रम के निर्माता-निर्देशकों की बाजारू सूझ-बूझ को दाद देनी होगी। उन्होंने काफी सटीक अनुमान कर लिया कि जिस तरह अपने पहले अवतार के दैरान अमिताभ ने समाज के दबे-कुचले

लोगों की दबी हसरतों को 'महानायक' बनकर बड़े पर्दे पर अकेले ही पूरा कर डालने में कामयाबी हासिल की थी, छोटे पर्दे पर भी किसी न किसी रूप में उसे दुहराया जा सकता है। सो, उन्होंने फार्मला दूँड़ निकाला। बिना हर्फ़-फिटकरी के करोड़पति कौन नहीं बनना चाहेगा आजकल? चाहे दफ्तर के चपरासी-बाबू हों या मुख्य कार्यकारी अधिकारी—ऐसे की माया के फेर में कौन नहीं पड़ना चाहेगा? इसलिए, प्रतियोगिता की आरम्भिक मंजिलों में सवाल ऐसे रखे गये, जिसका जवाब थोड़ा-बहुत सामान्य ज्ञान रखने वाला भी आसानी से दे दे। आखिरी सीढ़ी पर पहुंचकर करोड़पति चाहे न बन पाये, लखपति और हजारपति तो बन ही सकते हैं। इस लालसा में प्रतियोगिता में शामिल होने के इच्छुकों 'से फोन की घण्टियां अविराम-अहर्निश घनघना रही हैं। रूपट मडोंक और अमिताभ बच्चन के साथ फोन कम्पनियां भी मालामाल हो रही हैं।

धन्य है पूंजी का खेल। करोड़पति-लखपति-हजारपति बनने की चाह रखने वालों की आत्मा में पूंजीवाद का यह नारा जरूर गूंज रहा होगा—लालच जिन्दाबाद। प्रतियोगिता में शामिल बहुतेरे लोग हो सकता है कि फूटी कौड़ी भी न पायें। लेकिन क्या हुआ? और कुछ नहीं तो अपने दूसरे अवतार में 'बिंग बी' का दरस-परस और छुना-छाना तो हो जायेगा। मर्यादोंक में आना धन्य हो जायेगा। जो प्रतियोगिता में नहीं शामिल हैं, उनका भी सौभाग्य क्या कम है कि वे हफ्ते में चार दिन पूरे-पूरे पचास मिनट (मुए विज्ञापन दस मिनट खा जाते हैं) तक 'बिंग बी' का दर्शन-सुख हासिल कर रहे हैं। साक्षात् न सही, दूरदर्शन पर ही सही।

● मुक्तिबोध मंच, पन्नतनगर

गुर्दों की खेती

दिसम्बर 1997 में तेलंगाना के किसानों ने कपास की फसल में 'बॉलवर्म' के भीषण प्रकोप से तंग आकर, उन कीटों पर बेअसर रहे कीटनाशकों का सेवन कर अपनी जिन्दगी को समाप्त करने की राह पकड़ी थी। तब इस मुद्रे पर तत्कालीन व्यवस्था के पुर्जों ने तमाम फौरी तथा धूर्तापूर्ण कारण सुझाने शुरू कर दिये थे। आज भी किसानों की आत्महत्याओं का दौर थमा नहीं है। फसल खराब होने, कर्जे की अदायगी में असफलता, सम्पत्तिहीनता की वजह से सामाजिक प्रतिष्ठा में हास आदि कारणों से दिसम्बर 19997 में आन्ध्र प्रदेश से शुरू हुआ किसानों की आत्महत्याओं का सिलसिला

कनार्टक, महाराष्ट्र, पंजाब, उत्तर प्रदेश हर जगह फैल चुका है। इन आत्महत्याओं के आर्थिक और सामाजिक पहलुओं की पढ़ाल करने वाले जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय शोधकर्ताओं का एक समूह यह साफ तौर पर मानता है कि इनकी मुख्य वजहें मुद्रास्फीति तथा आर्थिक उदारीकरण हैं। इसी सन्दर्भ में बात करते हुए समाजशास्त्री आशीष नन्दी कहते हैं : "अब किसान संगठित होकर रैलियां और धरने नहीं करते हैं बल्कि वे चुपचाप आत्महत्या कर लेते हैं।"

गौरतलब है कि इन आत्म हत्याओं के दैरान ही न केवल आन्ध्र प्रदेश में विधान सभा चुनाव

सम्पन्न हुए बल्कि इस दुर्गति के लिए सीधे जिम्मेदार व्यवस्था पोषक व 'साइबर' नायक चन्द्रबाबू नायदू फिर से प्रचण्ड बहुमत के साथ सत्ता पर सवार हुए। मास-मीडिया के मूढ़ चन्द्र बाबू नायदू की चुनावी सफलता का श्रेय उनके "सुशासन" और तकनीकी लटकों-झटकों को देता है और उन्हें 'साइबराबाद' का मुख्य कार्यकारी मानते हैं जो कि अपनी सरकार को सुचना व संचारतंत्र द्वारा चलाना चाहते हैं।

जब एक तरफ हैदराबाद अभ्यासान तकनीकी शब्दवाली, विश्व के महाबली नेता के भाषणों से बलबला रहा था, उसी समय आनंद के किसानों के समक्ष पूंजीवाद के सेवक विज्ञान का जन-विरोधी चेहरा और भी धिनौने रूप में नुमाया हो उठा। कर्ज में ढूबे हुए इस प्रदेश के किसानों

से कर्ज की वसूली को सम्भव बनाने के निमित्त विज्ञान के एक और टहलते—चिकित्सक परिदृश्य पर बौद्धिक वेश्यावृत्ति करते नजर आये। इन चिकित्सकों की मदद से गुंटूर जिले के रेन्टाचिन्टाल गांव के 26 किसानों ने अपने गुर्दे एक ऐसे व्यक्ति को बेच दिये जो कि मानव अंगों का ही व्यापार करता है। इन किसानों के अतिरिक्त 100 से अधिक अन्य किसान भी अपने गुर्दे बेचना चाहते थे तथा आपरेशन से पहले चिकित्सकीय परीक्षण के लिए हाजिर भी हुए थे।

दरअसल कोई भी प्रौद्योगिकी हो—संचार, सुचना या चिकित्सा—पूंजीवादी व्यवस्था में सभी वैज्ञानिक कार्यकलाप पूंजी के चाकर हो चुके हैं। यही वजह है कि एक चिकित्सक, मात्र

भुगतान पाने पर तनिक भी सोचे बिना न केवल 26 गुर्दे निकाल देता है बल्कि व्यापारी के लिए ऐक भी कर देता है मानो यह मुर्गी के 26 अण्डे हों। यहां तक कि एक ही प्रौद्योगिकी पूंजीवादी व्यवस्था के विविध पायदानों पर खड़े लोगों से भिन्न-भिन्न बरताव करती है। यही वजह है कि हैदराबाद को 'साइबराबाद' बनाने वाली बुनियादी सुविधा—बिजली की 'लो वोल्टेज' आपूर्ति ही कुछ किसानों को आत्महत्या के लिए मजबूर कर चुकी है।

अथः एक बार फिर यही तथ्य साफ तौर पर उभरता है कि पूंजी की दुम से बंधा विज्ञान मानवीय संवेदनशून्य और अन्तः जन विरोधी ही हो सकता है।

● **मुक्तिबोध मंच, पन्ननगर**

स्वयंसेवी संगठनों से सावधान

(पृष्ठ 21 का शेष)

एन.जी.ओ. तंत्र का आज हमारे आम जीवन में काफी विस्तार होता जा रहा है। कुकुरमुत्तों की तरह स्वयंसेवी संगठन आज गली-मुहल्लों तक में उग रहे हैं। जो भी थोड़े दिन एन.जी.ओ. में काम करने का अनुभव प्राप्त कर ले रहा है, प्रोजेक्ट कांख में दबाये घूम रहा है—इस उम्मीद में कि कभी तो किसित का तारा चमकेगा। इसमें कोई भ्रम नहीं होना चाहिए कि ऐसे संगठन आज ठगों, भ्रष्टाचारियों और धोखेबाजों का स्वर्ग बने हुए हैं। ये क्रान्तिकारी शक्ति होने का भ्रम पैदा कर समाज के उन्नत तत्त्वों को खींच रहे हैं। तमाम ईमानदार नौजवान समाज-सेवा के भ्रमों का शिकार हो इनके चंगुल में फंस रहे हैं और ये संस्थाएं उनकी संवेदनशीलता और सदिच्छाओं का भरपूर दुरुपयोग कर रही हैं।

आज 'सहयोग' जैसी लाखों पतित एवं घृणास्पद स्वयंसेवी संस्थाएं भारत में सक्रिय हैं और अपने 'साम्राज्यवादी आकाओं' के मंसूबों को पूरा करने और उनके सिंहासन को बचाये रखने के काम में लगी हुई हैं। ऐसे में आज नौजवानों के लिए यह बेहद जरूरी है कि वे एन.जी.ओ. के साम्राज्यवादी कुचक्कों को समझें और यह समझें कि साम्राज्यवादियों की छत्रछाया में और उनके टुकड़ों पर पलने वाली स्वयंसेवी संस्थाओं का वेतनभोगी बनकर समाज को नहीं बदला जा सकता। समाज में कोई भी परिवर्तन सिर्फ और सिर्फ जनता के खून-पसीने के दम पर और उसके द्वारा शोषक-उत्पीड़क व्यवस्था के ध्वंस द्वारा ही लाया जा सकता है।

इतिहास के साथ एक बदसलूकी यह भी

(पृष्ठ 26 का शेष)

दी।" (संस्मृतियां पृ. 97)

उक्त उद्धरण न केवल राजगुरु की संस्कृत शिक्षा की कथित 'तर्कतीर्थ' उपाधि वरन् तत्कालीन संस्कृत शिक्षा के पुरोधाओं की लोलुपता और गर्हित निकृष्टता की पोल भी खोल देता है। क्या राजगुरु संस्कृत शिक्षा की वकालत कर इन घाघ मकड़ों का जाल मजबूत करने का प्रयास कर भी सकते थे? इसका निर्णय पाठकों पर छोड़ता हूँ।

फिर 'संस्कृति सत्य' के इस प्रयास का निहितार्थ क्या है? यही कि राजगुरु जैसे प्रखर समाजवादी को पुनरुत्थानवादी साबित कर अपने कठपुल्ला उद्देश्यों में विश्वसनीयता पैदा की जाये तथा शहीदों के बीच भी कृत्रिम अलगाव पैदा किया जाये।

एक बार हम फिर शिवर्वमा वर्णित राजगुरु की जीवनी पर आते हैं—“छह वर्ष की अवस्था में राजगुरु के पिता का देहान्त हो गया था। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में उन्होंने घर छोड़ दिया था। उनकी संस्कृत शिक्षा का अन्त आप ऊपर पढ़ चुके हैं। इसके बाद चार-पांच वर्षों तक क्रान्तिकारियों के सम्पर्क में ही नहीं रहे वरन् सक्रिय रहे। उस दौरान उनकी सक्रियता का अहसास इसी से हो जाता है कि उस दौरान दल के सबसे अहम

ऐक्षण—'साण्डर्स वध' के मुख्य कर्ता थे। इसके बीच में वे कुछ समय एक प्रूनिसपल स्कूल के 'डिल मास्टर' भी रहे थे।" अब वचनेश त्रिपाठी जी ने तय कर लिया कि राजगुरु संस्कृत का प्रचार करें तो उन्हें करना ही पड़ा। अफसोस होता है कि जिस व्यक्ति को जीते जां समूची ब्रिटिश सत्ता नहीं झुका सकी, मौत के बाद एक कलमनवास अपनी अंगुली के झटकों से उसके व्यक्तित्व में मननाहो तोड़-मरोड़ पैदा कर रहा है।

वचनेश त्रिपाठी जी! जिस प्रकार पांच गोलियां जाया होने पर आप दुखी हो रहे हैं, मुझे लगा जैसे 'सरकारी 'आडिटरों' का दल 'हिन्दुस्तान समाजवादी प्रजातांत्रिक संघ' के दस्तावेजों की जांच कर रहा है तथा उसकी जांच में यह नुकस मिला कि भगतसिंह पर पांच गोलियां बकाया हों। हमारा कहना यह है कि वचनेश जी कि भगतसिंह की क्रान्तिकारी परम्परा के उत्तराधिकारियों पर केवल पांच गोलियां ही नहीं इस मुल्क के मजलूमों-गरीबों की मुक्तम्ल आजादी ही बकाया है, जिसका जिम्मा उन्हें इतिहास ने सौंप रखा है। साथ ही यह जिम्मा भी कि गोएबल्स के उत्तराधिकारियों को इतनी गहराई में दफन कर दें कि वे फिर से कब्र से बाहर न आ सकें। ●

इंकलाब के लिए जरूरी है एक इंकलाबी पार्टी

और इंकलाबी पार्टी के लिए जरूरी है एक इंकलाबी अखबार

पढ़िए नई समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिंगुल मूल्य : तीन रुपए

सम्पादकीय कार्यालय : 69, बाबा का पुरावा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ

हालीवुड का नया मसीही उपदेश ‘प्रकृति से छेड़छाड़ मत करो!’

दृष्टि

मानव सभ्यता की शुरुआत से लेकर आज तक मनुष्य विज्ञान की मदद से उन्नति करता रहा है। विज्ञान के हथियार से लैस होकर मनुष्य ने अपने को बंधनमुक्त कर अपनी अज्ञानता को दूर किया; और आज भी वह विज्ञान की मशाल को अपने हाथ में लेकर अज्ञान भय की सुरंगों के गहन अंधकार को चीरते हुए भविष्य के पथ पर आगे बढ़ रहा है। लेकिन विगत कुछ वर्षों से हालीवुड के फिल्म निर्माताओं द्वारा बनायी जा रही फिल्मों में विज्ञान के सृजनकारी रूप की जगह उसके विव्यंसकारी रूप को चित्रित किया जा रहा है, मनुष्य के हाथ में विज्ञान के हथियार को पथ प्रदर्शक की बजाय आत्मधातक हथियार के रूप में दिखाया जा रहा है।

विभिन्न विलुप्त हो चुके या अस्तित्वमान जीव-जन्तुओं पर वैज्ञानिक प्रयोगों के घातक परिणामों के माध्यम से विज्ञान के विनाशक रूप को प्रस्तुत किया जा रहा है। ‘डीप ब्लू सी’ (मौत का समुद्र) में पार्किंसन रोग के इलाज के लिए शार्क के मस्तिष्क से थोड़ा प्रोटीन निकालने पर उसका बदहवास होकर प्रयोगकर्ताओं के लिए ही काल बन जाना, ‘अनाकोण्डा’ और ‘किंग कोब्रा’ में सांपों से छेड़छाड़ कर देने पर उनका खतरनाक रूप में सामने आना, ‘जुरासिक पार्क’ और ‘द लास्ट वल्ड’ में प्रयोगों के बाद डायनासोर का उदय होकर विव्यंस मचाना, ‘बैट्स’ में वैज्ञानिक प्रयोगों के कारण खतरनाक हो गये चमगादङों का मनुष्यों पर धावा बोल देना, ‘गॉडजिला’ में नाभिकीय विकिरण के कारण छिपकली प्रजाति के एक जीव का दैत्याकार रूप धरकर न्यूरार्क में कहर बरपा करना इसके कुछ उदाहरण हैं।

इन सभी फिल्मों में विज्ञान के साथ कल्पना के घालमेल से दिखाया जाता है कि प्रकृति के नियमों के साथ छेड़छाड़ से कैसे विनाशकारी दैत्य पैदा हो जाते हैं। इनका संदेश कुछ वैसे ही होता है जैसे एक ओर तो पूंजीवादी होड़ के परिणामस्वरूप भयंकर संहारक्षमता वाले परमाणु हथियार रखे जाते हैं और फिर उन्हीं का उदाहरण देकर विज्ञान को ही दोषी ठहराया जाता है। विज्ञान का गलत इस्तेमाल कौन और किसलिये कर रहा है, इस पर पर्दा डाल दिया जाता है। यह अनायास नहीं है कि — ‘जुरासिक पार्क’, ‘द लास्ट वल्ड’, ‘गॉडजिला’, ‘अनाकोण्डा’, ‘किंग कोब्रा’, ‘डीप ब्लू सी’, ‘मगरमच्छ’, ‘बैट्स’—इन सभी फिल्मों में विज्ञान की नकारात्मक भूमिका है, सकारात्मक नहीं। इन सभी फिल्मों में वैज्ञानिक प्रयोग निष्कर्ष रूप में एक ही सन्देश दे रहे हैं—‘प्रकृति से छेड़छाड़ मत करो।’ लेकिन सह सन्देश भी आरोपित है, क्योंकि प्रकृति से छेड़छाड़ करने वाले पूंजीपति, व्यापारी, माफिया आदि ही तो हैं—बाजार तथा पूंजी के स्वामी! फिर यह चीख-पुकार क्यों? अखिर आज विज्ञान उन्हींके हाथ में मुनाफा कमाने का एक औजार बन गया है।

भूपण्डलीकरण के दौर में विश्व पूंजीवाद आज संकटग्रस्त है, उसका भविष्य अंधकारमय है। वह अपने अन्त को समूची मानवता का भविष्य बनाकर प्रस्तुत करते हुए तरह-तरह के ‘अन्त’ के दर्शन दे रहा है। ‘विज्ञान का अन्त’ हो जाने की बातें की जा रही हैं। इसलिए विज्ञान की अवैज्ञानिक

प्रस्तुति हो रही है। विज्ञान का निषेध, जिज्ञासाओं का निषेध और अन्त में जीवन का ही निषेध कर यह स्थापित किया जा रहा है कि वर्तमान पतनशील, परजीवी पूंजीवादी व्यवस्था ही मानव सभ्यता का चरम रूप है, मानव सभ्यता अब इसके आगे डग नहीं भर सकती।

सवाल यह है कि इन फिल्मों को दर्शक क्यों पसन्द कर रहे हैं? इसका कारण विज्ञान की अवैज्ञानिक धारणाओं में उतना नहीं है जितना समाज में व्याप्त निराशा, विकल्पहीनता, पूंजी की अंध शक्तियों के सम्पुष्छ निरुपायता और पूंजी एवं बाजार की शक्तियों के रहस्यीकरण में है। आज भी बहुसंख्यक मेहनतकश लोगों के लिए यह बात सच है कि कर्म वह करते हैं, फल किसी अदृश्य सत्ता के हाथ में है। इसी सोच को और मजबूती से दिमागों में बैठाने के लिए आज हालीवुड में भूत-प्रेत, रहस्य और परा-मनोविज्ञान पर भी खूब फिल्में बनायी जा रही हैं। ‘सिवस्थ सेंस’, ‘दि ब्लैयर विच प्रोजेक्ट’, ‘आई नो व्हाट यू डिड लास्ट समर’, ‘स्क्रीम-I’, ‘स्क्रीम-II’ और ‘एविल डेंट’ जैसी फिल्में इसके चंद उदाहरण हैं।

यह ठीक है कि आज विज्ञान की रचनात्मक भूमिका की जगह इसकी व्यांसात्मक भूमिका ज्यादा सामने आ रही है, लेकिन यह भी वर्ग-निरपेक्ष नहीं है। विज्ञान आज सत्ताधारी पूंजीपति वर्ग के हितों के मातहत है जो बहुसंख्यक मेहनतकश वर्ग से ज्यादा से ज्यादा मुनाफा निचोड़ने और उसके ऊपर शासन करने के लिए विज्ञान को एक शोषणकारी यंत्र के रूप में इस्तेमाल कर रहा है। जब तक समाज वर्गों में बंटा है, मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण है तब तक विज्ञान भी शासक वर्गों के हितों के लिए इस्तेमाल होता रहेगा। विज्ञान अपने सृजनकारी रूप में तभी सामने आ पायेगा, जब एक प्रबल जनक्रान्ति होगी और वर्ग अन्तरविरोधों का स्वरूप बदलेगा। समाज विज्ञान के साथ प्रकृति विज्ञान को गतिहीन साबित करने की नाकाम कोशिश करने वाली पूंजीवादी सभ्यता की जीवनीशक्ति आज निश्चेष हो चुका है। इसीलिए वह विज्ञान को बंधक बनाकर खुद को दीर्घजीवित का इंजेक्शन लगाने की कोशिश कर रही है। यदि मानवता को आगे बढ़ना है तो विज्ञान को इन सभी बंधनों से मुक्त करना होगा जिनमें वर्ग-पूर्वग्रहों और सरकारी दबावों ने उसे बांध रखा है। ●

घोषणापत्र : प्रपत्र-1

पत्रिका का नाम	- आहान कैम्पस टाइम्स
आवर्तिता	- त्रैमासिक
भाषा	- हिन्दी
प्रकाशक-स्वामी का स्थान	- गोरखपुर
प्रकाशक का नाम	- आदेश सिंह
राष्ट्रीयता	- भारतीय
पता	- 'संस्कृति कुटीर', कल्याणपुर, गोरखपुर
मुद्रक का नाम	- आदेश सिंह
राष्ट्रीयता	- भारतीय
पता	- 'संस्कृति कुटीर', कल्याणपुर, गोरखपुर
सम्पादक का नाम	- मुकुल श्रीवास्तव
राष्ट्रीयता	- भारतीय
पता	- 'संस्कृति कुटीर', कल्याणपुर, गोरखपुर
मुद्रणालय का नाम	- आफसेट प्रेस, नखास गोरखपुर

मैं आदेश सिंह, यह घोषणा करता हूँ कि उपर्युक्त तथ्य मेरी अधिकतम जानकारी के अनुसार सत्य हैं।

हस्ताक्षर
आदेश सिंह
(प्रकाशक/स्वामी/मुद्रक)

प्रकाशन सिर्फ व्यवसाय नहीं, देश के सांस्कृतिक और शैक्षिक विकास में भागीदारी भी है

शिक्षा की पुस्तकें

बाराबियाना स्कूल के बच्चे

अध्यापक के नाम पत्र 150.00

कृष्ण कुमार

शैक्षिक ज्ञान और वर्चस्व 125.00

रवींद्रनाथ ठाकुर

रवींद्रनाथ का शिक्षादर्शन 150.00

जोनाथन कोज़ोल

क्रांति की बाहर खड़ी 200.00

पाओलो फ्रेरे

प्रौढ़ साक्षरता 125.00

मार्टिन कारनॉय

सांस्कृतिक साम्राज्यवाद और शिक्षा 350.00

जॉन डिवी

शिक्षा और लोकतंत्र 300.00

नरिंदर सिंह

संस्कृति, शिक्षा और लोकतंत्र 125.00

गैरेथ बी. मैथ्यूज

बच्चों से बातचीत 125.00

जार्ज डैनीसन

बच्चों का जीवन 225.00

मरिया मांटेसरी

ग्रहणशील मन 225.00

बीट्रीस एवॉलास

गरीब बच्चों की शिक्षा 200.00

रामशरण जोशी

आदिवासी समाज और शिक्षा 200.00

मूनिस रजा

शिक्षा और विकास के सामाजिक आयाम 200.00

पाओलो फ्रेरे

उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र 150.00

सिल्विया एश्टन वॉर्नर

अध्यापक 150.00

नुगी वॉ थ्योंगो

औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति 185.00

सुसांत गुणतिलक

पंगु मस्तिष्क 450.00

अंतोन मकारेंको

शिक्षा की महागाथा (तीन का सेट) 985.00

साधना सक्सेना

शिक्षा और जन आंदोलन 275.00

अनिल सद्गोपाल

शिक्षा में बदलाव का सवाल 425.00

परमेश आचार्य

देशज शिक्षा, औपनिवेशिक विरासत और जातीय विकल्प 275.00

कृष्ण कुमार

शिक्षा और ज्ञान 150.00

जेम्स ब्रिटन

भाषा और अधिगम (प्रकाश्य)

विस्तृत जानकारी के लिए लिखें

ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, जी-82, विजय चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली 110092

बेहतर जिन्दगी का रास्ता बेहतर किताबों से होकर जाता है।

परिकल्पना प्रकाशन की पुस्तकें

शहीदेआजम की जेल नोटबुक

एक महान विचारायत्रा का दुर्लभ साक्ष्य • भारतीय इतिहास का एक दुर्लभ दस्तावेज • भगतसिंह की शहादत के 68 वर्ष बाद हिन्दी में पहली बार प्रकाशित □ पृष्ठ 200 • 50 रुपये

विचारों की सान पर

भगतसिंह और उनके साथियों के चुने हुए दस्तावेज, पत्र और वक्तव्य □ पृष्ठ 104 • 20 रुपये

माओ त्से-तुड़ की कविताएं

राजनीतिक पृष्ठभूमि सहित विस्तृत टिप्पणियों के साथ अनुवाद एवं सम्पादन : सत्यवत □ पृष्ठ 96 • 20 रुपये

चुनी हुई कहानियां : मर्किसम गोर्की (पहला खण्ड)

पृष्ठ 168 • 35 रुपये

चिरस्मरणीय

कथ्यूर के किसान आन्दोलन के शहीदों पर लिखा निरंजन का प्रसिद्ध कन्ड उपन्यास, अनुवाद : रामकृष्ण पाण्डेय □ पृष्ठ 168 • 35 रुपये

बेटोल्ट बेष्ट : इकहत्तर कविताएं और

तीस छोटी कहानियां

मूल जर्मन से अनुवाद : मोहन थपलियाल □ पृष्ठ 148 • 60 रुपये

लहू है कि तब भी गाता है —पाश

(पाश के सभी संग्रहों से चयनित प्रतिनिधि कविताओं का संकलन)

संपादक : चमनलाल एवं कात्यायनी □ पृष्ठ 176 • 75 रुपये

पांच कहानियां : पुश्किन □ पृष्ठ 96 • 20 रुपये

दो अमर कहानियां : लू शुन □ पृष्ठ 96 • 20 रुपये

श्रेष्ठ कहानियां : प्रेमचंद □ पृष्ठ 96 • 20 रुपये

तीन कहानियां : गोगोल □ पृष्ठ 144 • 30 रुपये

दुर्ग द्वार पर दस्तक

कात्यायनी □ पृष्ठ 152 • 50 रुपये (द्वितीय संशोधित संस्करण)

माओवादी अर्थशास्त्र और समाजवाद का भविष्य रेमण्ड लोट्टा के दो महत्वपूर्ण लम्बे लेखों का संकलन पृष्ठ 104 • 25 रुपये

समर तो शेष है...

इष्टा के दौर से आज तक के प्रतिनिधि क्रान्तिकारी समूहोंतों का अनन्य संकलन □ पृष्ठ 144 • 35 रु. रुपये

क्रान्ति का विज्ञान

लेनी बुल्फ □ पृष्ठ 36 • 10 रुपये

अब इंसाफ होने वाला है

उर्दू की प्रगतिशील कहानियों का प्रतिनिधि संकलन संपादक : शकील सिद्दीकी □ पृष्ठ 248 • 75 रुपये

मध्यवर्ग का शोकगीत

हान्स मार्गनुस एंसेंसबर्गर की कविताएं

सम्पादन एवं अनुवाद : सुरेश सलिल □ पृष्ठ 72 • 25 रुपये

राहुल फाउण्डेशन के प्रकाशन

माओ त्से-तुड़ की रचनाओं के उद्धरण

35 रुपये

Quotations from Mao Tse-Tung

40 रुपये

पार्टी साहित्य और पार्टी संगठन —लेनिन

15 रुपये

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद —वी. अदोरात्सकी

15 रुपये

राजनीतिक अर्थशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त (दो खण्डों में)

(दि शंघाइ टेक्स्टबुक आफ पोलिटिकल इकॉनमी) प्रत्येक खण्ड : 60 रुपये

कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र

—कार्ल मार्क्स, फ्रेडरिक एंगेल्स 10 रुपये

बुर्जुआ वर्ग पर सर्वतोमुखी अधिनायकत्व लागू

करने के बारे में —चाढ़ चुन-चियाओं 3 रुपये

मई दिवस का इतिहास —अलेक्जेंडर ट्रैवर्टनबर्ग

3 रुपये

अक्टूबर क्रान्ति और लेनिन —एल्बर्ट रीस विलियम्स

75 रुपये

दार्यित्वबोध पुस्तिका शृंगव्रला

अनश्वर हैं सर्वहारा संघर्षों की अग्निशिखाएं

—दीपायन बास 10 रुपये

समाजवाद की समस्याएं, पूंजीवादी पुनर्स्थापना और

महान सर्वहारा, सांस्कृतिक क्रान्ति —शशिप्रकाश 12 रुपये

क्यों माओवाद —शशिप्रकाश 10 रुपये

बिगुल पुस्तिका शृंगव्रला

कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन और उसका ढांचा

—वी.आई. लेनिन 5 रुपये

मकड़ा और मक्खी —विल्हेल्म लीब्कनेखा

2 रुपये

ट्रैड्यूनियन काम के जनवादी तरीके

—सर्जी रास्तावस्की 2 रुपये

राहुल फाउण्डेशन एवं परिकल्पना प्रकाशन की पुस्तकों के मुख्य वितरक :

जनचेतना

3/274, विश्वास खण्ड, गोमतीनगर,

लखनऊ-226 010 (0522) 308896

(व्यक्तिगत प्रतियों के लिए 12 रुपए रजिस्ट्री शुल्क
जोड़कर ड्राफ्ट या एम.आर. भेजें)

स्पृह करो पूँजी का राज! लड़ो, बनाओ लोक स्वराज!



गांव-गांव में अलख जगाकर
विदेशी लूट मिटाएंगे
देशी कफनखसोटों को भी
लड़कर मार भगाएंगे
कसम शहीदों की भारत में
लोक स्वराज बनाएंगे

...“देश के इतिहास के ऐसे मोड़ पर, जब समय के गर्भ में महत्वपूर्ण बदलाव के बीज पल रहे हैं, हम पूँजीवादी जनतंत्र की खर्चीली धोखाधड़ी और तथाकथित पंचायती राज के कपटपूर्ण शगूफे को सिरे से खारिज करने के लिए उन सबका आह्वान करते हैं जो इस व्यवस्था में छले जा रहे हैं, ठगे जा रहे हैं, लूटे जा रहे हैं और आवाज उठाने पर कुचले जा रहे हैं। इस व्यवस्था में जिनका कोई भविष्य नहीं है, वे ही नई व्यवस्था बनाने के लिए आगे आएंगे। उन्हें आगे आना ही होगा।

...सवाल आज विदेशी गुलामी बनाम स्वदेशी का नहीं है। बल्कि सवाल सम्पूर्ण पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली और पूँजीवादी सामाजिक-राजनीतिक-सांस्कृतिक प्रणाली को ही नष्ट करने का है, जो अनैतिहासिक और मानवद्वेषी हो चुकी है।

21वीं सदी में इतिहास के एंजेंडे पर यही केन्द्रीय मुद्दा है। क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य का नारा उस पूँजीवादी सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए संघर्ष का नारा है, जिसने देशी पूँजीपतियों की लूट के साथ ही साप्रान्यवादी देशों और उनकी बहुराष्ट्रीय कर्पनियों की लूट के लिए देश के दरवाजे खोल दिये हैं।

क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य अभियान पूँजीवादी जनतंत्र के सभी स्वांगों और छल-छद्मों का भण्डाफोड़ करते हुए वर्तमान संसदीय प्रणाली को सिरे से खारिज करने का और सरकारी पंचायती राज के असलियत को समझने का आह्वान करता है।

क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य अभियान व्यापक परिवर्तन के हर मोर्चे पर सनद्ध होने के साथ-साथ गांव-गांव में, शहर के मुहल्लों और मजदूर बस्तियों में जनता की वैकल्पिक सत्ता के क्रान्तिकारी केन्द्रों के रूप में लोक स्वराज्य पंचायतों के गठन का आह्वान करता है।

हम जानते हैं कि, यह रास्ता लम्बा है। पर यही एकमात्र विकल्प है। यही इतिहास का रास्ता है। इसलिए हमारा यह संग्रामी संकल्प है कि ‘लोक स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और हम हर कीमत पर उसे लेकर रहेंगे।’

दिशा छात्र संगठन, बिगुल मज़दूर दस्ता, देहाती मज़दूर-किसान यूनियन, नारी सभा, दायित्वबोध मंच और नौजवान भारत सभा की ओर से पिछले छह वर्षों से चलाये जा रहे

क्रान्तिकारी लोक स्वराज्य अभियान के पर्चा संख्या-4 के अंश